उत्तराखंड की लोक साहित्य परम्परा

दिवा भट्ट
उपाचार्य, हिंदी विभाग
कुमाऊं विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा परिसर,
अल्मोड़ा-263601

H
398.209 542
B 469 U

श्री अल्मोड़ा बुक डिपो

उत्तराखंड की लोक साहित्य परम्परा

दिवा भट्ट
उपाचार्य, हिंदी विभाग
कुमाऊं विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा परिसर,
अल्मोड़ा-263601

श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
द माल, अल्मोड़ा-263 601

प्रकाशक :
श्री विनोद प्रसाद अग्रवाल
श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
द माल, अल्मोड़ा-263 601
(उ.प्र.) - भारत
दूरभाष : 22148, 22113

शाखा :
ए-2/71-बी, प्रथम तल, लारेंस रोड,
केशवपुरम, दिल्ली-110035 (भारत)
फोन : 7100104

Library IIAS, Shimla
H 398.209542 B 469 U
00090305

प्रथम संस्करण : 1998

रु० 25

© दिवा भट्ट

ISBN : 81-85865-

लेज़र टाईपसैटिंग :
बी. डी. कम्प्यूटर्स
मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001

मुद्रित :
डी. के. फाईन आर्ट प्रेस (प्रा.) लि.
दिल्ली

भारत में मुद्रित

आमुख

इधर कुछ वर्षों से उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र : कुमाऊं और गढ़वाल को राजनैतिक तौर पर शेष प्रान्त से अलग करके स्वतंत्र राज्य बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। भौगोलिक और सांस्कृतिक कारणों से यह शेष क्षेत्र से भिन्न ही है। इन दोनों मंडलों की परिस्थितियाँ, समस्याएँ और उपलब्धियाँ समान होने से पारस्परिक एकता की पुष्टि करती हैं। यह दुर्गम पर्वतीय क्षेत्र प्राकृतिक दृष्टि से जितना सुन्दर और समृद्ध है, जीवन यापन के लिए उतना ही कठिन भी है। सामाजिक-साँस्कृतिक दृष्टि से इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ की संस्कृति भारत की विभिन्न संस्कृतियों का समवेत प्रतिनिधित्त्व करती है। प्राचीन काल से आज तक विभिन्न क्षेत्रों-देशों से विभिन्न जातियाँ यहाँ आईं, बसीं और स्थानांतरित हुईं। तिब्बत, चीन, मध्य एशिया, असीरिया की घुमक्कड़ जातियाँ भी यहाँ अपने साँस्कृतिक अवशेष छोड़ गई हैं और मध्य काल में भारत के विभिन्न प्रान्तों से तीर्थाटन हेतु अथवा हिन्दू धर्म, दर्शन तथा कलाओं को सुरक्षित रखने हेतु उत्तराखंड में बसे लोगों ने भी भारत की विभिन्न भाषाओं-संस्कृतियों के चिह्न यहाँ अंकित किये हैं। उत्तर मध्य युग के बाद इस्लाम, ईसाई और सिख धर्म के अनुयाइयों का भी यहाँ आगमन हुआ। इन सबने मिलकर उत्तराखंड की संस्कृति को विविधतापूर्ण भारतीय संस्कृति का समवेत स्वरूप प्रदान किया। यहाँ की भाषा और साहित्य में इसी समवेत संस्कृति के बिम्ब दिखाई देते हैं।

भाषा वैज्ञानिकों ने कुमाउनी और गढ़वाली को हिन्दी की बोलियों के अन्तर्गत रखा है, किन्तु आज इनका भाषिक स्वरूप एवं साहित्य इतना विकसित हो चुका है कि इन्हें स्वतंत्र भाषाएँ भी माना जाने लगा है। इनके उद्‌गम और इतिहास के ठोस प्रमाणों

के अभाव में विद्वानों के अन्वेषण और अनुमान के आधार पर हम अपभ्रंश से उद्भवित हिंदी के साथ-साथ ही इसका भी स्वतंत्र उद्भव और विकास मानते हैं। प्राचीन साहित्य भी अब अनुपलब्ध है। उपलब्ध लोक साहित्य में प्रक्षेपण-परिवर्तनों के कारण प्राचीन कालीन सही स्वरूप और तथ्य खोजना दुस्कर होता है; फिर भी प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही यहाँ प्राचीन से आज तक के साहित्य का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

पूर्व युगों में दुर्गम पर्वतीय पथों में आवागमन सहज सुलभ न हो पाने के कारण कुमाऊं और गढ़वाल का पारस्परिक संपर्क प्रायः कम रहा, इसलिए आज भी इनकी भाषा संस्कृति को भिन्न-भिन्न मानकर उनके अलग-अलग अध्ययन किये जाते हैं। किन्तु वास्तविक तौर पर इन दोनों में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में क्षेत्रीय वैशिष्ठ्य के साथ-साथ बाह्य प्रभाव भी समान दिखाई देते हैं।

उत्तराखंड की भाषा और साहित्य का संक्षिप्त परिचय देती यह पुस्तिका अध्येताओं तथा जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने के साथ ही एकता और समरूपता के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायक होगी ऐसी आशा है। इसके प्रकाशन में सहयोग देने के लिए श्री अल्मोड़ा बुक डिपो के प्रति मैं आभारी हूँ।

अल्मोड़ा 19-10-1995

दिवा भट्ट

अनुक्रमाणिका

	आमुख	v-vi
1	उत्तराखंड की भाषा	1-9
2	लोक साहित्य परम्परा	10-56
	संदर्भ सूची	57-59

उत्तराखंड की भाषा

भाषा वैज्ञानिकों ने पश्चिमी हिन्दी की उपबोलियों के वर्गीकरण में कुमाउनी और गढ़वाली को मध्य पहाड़ी भाषा के अन्तर्गत माना है। सर्वप्रथम जौर्ज ग्रियर्सन ने यह वर्गीकरण किया था, जिसमें हिमांचल क्षेत्र की बोलियों को पश्चिमी पहाड़ी; नेपाली और उसकी बोलियों को पूर्वी पहाड़ी एवं कुमाउनी व गढ़वाली की बोलियों को मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत रखा गया। यह वर्गीकरण मुख्यतः भौगोलिक आधार पर किया गया था। उसके बाद सुनीति कुमार चटर्जी आदि ने इन दोनों बोलियों को दरद और खस प्राकृत से सम्बन्धित मानते हुवे मध्यकाल में राजस्थान की अपभृंश प्राकृत से प्रभावित बताया। फिर धीरेन्द्र वर्मा ने इन्हें शौरसैनी अपभृंश से निकली हुयी बताया। (रुवाली 1980) ये ही मान्यताऐं काफी हद तक आज तक भी चल रही हैं। मूलतः इन बोलियों का उद्‌गम यहाँ के मूल निवासियों की बोलियों में माना जा सकता है। गोविन्द चातक, डी.डी. शर्मा, शोभाराम शर्मा, केशवदत्त रुवाली, वैष्णव तथा शिवानन्द नौटियाल आदि सभी इस बात को मानते हैं। डी.डी. शर्मा (1980) लिखते हैं कि "प्रागैतिहासिक युग में यह क्षेत्र उन अनार्य कबीलों की क्रीड़ास्थली रहा है, जिन्हें किरात, किन्नर, यक्ष, गंधर्व, तंगण, कुणिन्द, नाग, हूण आदि के नामों से अभिहित किया जाता रहा तथा जो भिन्न-भिन्न जातीय तथा भाषाई वर्गों से सम्बन्ध रखते थे। यहाँ तक कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के उत्तरार्ध तक भी यह क्षेत्र वैदिक धर्म तथा वैदिक भाषा की परिधि से बाहर था।" आज भी यहाँ की बोलियों में अनेक शब्द ऐसे हैं; जिनका मूल संस्कृत अथवा संस्कृत से विकसित हुई किसी भारतीय भाषा में नहीं मिलता।

इस प्रकार के कुछ शब्द आगे तालिका में दिये गये हैं। ऐसे शब्द – प्रयोग सीमान्त की जनजातियों में अधिक मिलते हैं। राजी जनजाति की बोली में कोल और मुण्डा जनजातियों के शब्द सबसे अधिक पाये जाते हैं। ब्राह्मणों की भाषा में संस्कृत के एवं आधुनिकता से प्रभावित शहरियों और शिक्षितों की भाषा में आधुनिक हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी के शब्द अधिक पाये जाते हैं। यहाँ के निवासियों का इतिहास देखने पर भी यही प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यहाँ पर आग्नेय परिवार की भाषायें बोली जाती रही होंगी। वैदिक धर्म प्रचार के काल में ब्राह्मणों का आगमन और संस्कृत भाषा का प्रवेश साथ-साथ हुआ। वैदिक धर्म की भांति संस्कृत ने भी यहाँ पर अपनी जड़ें मजबूती से जमा लीं, किन्तु उसके साथ-साथ स्थानीय लोक बोली भी बोली जाती रही। इसी कारण बाद में जब कुमाउनी और गढ़वाली का स्वतंत्र रूप विकसित हुआ तो इनमें संस्कृत के शब्दों और व्याकरण के साथ स्थानीय बोलियों के शब्द और भाषिक प्रयोग भी सम्मिश्रित होते गये। इसीलिए ये दोनों बोलियाँ अन्य भाषाओं और बोलियों से भिन्न प्रकार की हैं।.अधिकांश शब्द समान होते हुए भी उनके उच्चारण और प्रयोग पद्धति की विशिष्टता के कारण ये दोनों बोलियाँ भी परस्पर भिन्न स्वरूप ग्रहण करती हैं। मध्य काल में भारत के अन्य प्रांतों से आने वाली जातियों की भाषाओं से भी दोनों समान गति से प्रभावित होती रहीं। इनमें सर्वप्रथम नवीं-दसवीं सदी के बाद गुर्जर राजपूतों का प्रवेश हुआ, जिससे यहाँ की बोलियों पर शौरसैनी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा। इसीलिए गुजराती और राजस्थानी के अनेक शब्द यहाँ की भाषाओं में आ गये (तालिका -1)। नागों, शकों, गुर्जरों, आभीरों व राजस्थान के साथ गढ़वाल का ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है, अतः इनका सम्बन्ध गढ़वाली में मिलना स्वाभाविक है..... डा. भण्डारकर का मत है कि पूर्वी राजस्थानी पहाड़ी हिन्दी से निकली है (नौटियाल, 1988)।

तीर्थयात्रा और तन्त्र साधना इत्यादि के लिये यहाँ आने और कभी-कभी यहीं बस जाने वाले अन्य लोगों के साथ बांग्ला, मराठी, ब्रज, तमिल, तेलगू, मलियाली, अवधी, पंजाबी इत्यादि भाषाओं के शब्द भी यहाँ की भाषा में शामिल हो गये। दसवीं शताब्दी के आसपास संस्कृत की अपभ्रंश भाषाओं का स्वतंत्र विकास आरम्भ हुआ। कुछ लोग उसी समय से कुमाउनी-गढ़वाली का उद्भव भी मानते हैं। धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं कि 1000 ई. के पश्चात् अपभ्रंश भाषाओं ने धीरे-धीरे आधुनिक बोलियों का रूप धारण

किया। इसी काल में पश्चिमी हिन्दी की मध्य महाड़ी बोलियों - कुमाउनी और गढ़वाली का विकास भी हुआ। इन दोनों बोलियों में स्थानीय लोकभाषा के अतिरिक्त ऐसे अनेक वैदिक शब्द हैं जो आज हिन्दी में भी नहीं पाए जाते। रूवाली (1980) ने पन्द्रहवीं शताब्दी को कुमाउंनी का प्रादुर्भाव काल माना है। चन्द्र काल में कुमाऊं की राजकीय भाषा संस्कृतनिष्ठ कुमाउनी थी। इस बात के प्रमाण तत्कालीन ताम्रपत्रों और अभिलेखों में भी मिलते हैं। लगभग यही काल गढ़वाली के स्वतंत्र विकास का भी रहा है (नौटियाल, 1988)।

मुगल शासन काल में भारत के भिन्न-भिन्न भागों से यहाँ आकर बसने वाले लोगों के साथ उनकी प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के साथ अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द भी यहाँ की भाषा में मिल गये। बाद में अंग्रेजों के शासनकाल में अंग्रेजी इत्यादि यूरोपीय भाषाओं के शब्द भी प्रयोग में आने लगे। इस तरह कोल, किरात, मुण्डा और संस्कृत से लेकर आधुनिक भारतीय तथा विदेशी भाषाओं तक विभिन्न स्रोतों से आये शब्दों से समृद्ध होकर कुमाउनी और गढ़वाली आज स्वतंत्र भाषा बनने योग्य सामर्थ्यवान हो चुकी हैं।

इन दोनों बोलियों की लिपि देवनागरी है। अपनी स्वतंत्र लिपि न होने के कारण तथा व्याकरण का परिमार्जित स्वरूप प्रयोग में न आ पाने के कारण अब तक इन्हें भाषा का दर्जा नहीं मिल पाया है, परन्तु इनकी अभिव्यक्ति शैली विशिष्ट है एवं इनका शब्द सामर्थ्य इतना समृद्ध और सार्थक है कि मानव की सूक्ष्माति सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में कई बार ये हिन्दी आदि से अधिक सक्षम होती हैं। आधुनिक युग में दोनों भाषाओं में ऊँचे स्तर का परिनिष्ठित साहित्य भी काफी मात्रा में रचा जा रहा है। चातक की बात कुमाउनी और गढ़वाली दोनों भाषाओं के लिये समान रूप से लागू होती है कि इनमें "ज्ञान-विज्ञान, धर्म और दर्शन की विशिष्ट शब्दावली का नितान्त अभाव है, किन्तु जहाँ तक ग्रामीण लोकजीवन की कोमल-करूण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है गढ़वाली संस्कृत से उधार ली हुई तत्सम शब्दावली पर पनपने वाली अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं से अधिक सप्राण और सम्पन्न है" (चातक, 1980)।

पश्चिमी हिन्दी की मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत आने वाली कुमाउनी एवं गढ़वाली भाषा की अधिकांश प्रवृत्तियाँ समान हैं, फिर भी उच्चारण भेद तथा कई स्थानीय शब्दों का भिन्नत्व इन्हें एक दूसरे से भिन्नता और वैशिष्ठ्य भी प्रदान करता है। इस भिन्नता के भी कुछ कारण हैं। 'बारह कोश पर भाषा बदल जाती है', यह कहावत यहाँ भी चरितार्थ होती है, इसलिए इन दोनों भाषा क्षेत्रों में भौगोलिक अन्तर भाषा के परिवर्तित रूप का पहला कारण है। सीमावर्ती पड़ोसी राज्यों की भाषा का प्रभाव दूसरा कारण है, जैसे कुमाउनी की उत्तरी सीमा की भाषा नेपाली तथा तिब्बती से साम्य रखती है तो गढ़वाली पर हिमांचली का प्रभाव है। तीसरा कारण आप्रवासी लोगों का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का होना माना जा सकता है। दक्षिणी क्षेत्र में ये दोनों भाषाएँ हिन्दी, उर्दू और पंजाबी से प्रभावित होती हैं। तराई की जनजातियाँ कुमाउनी या गढ़वाली नहीं बोलतीं। नजीबाबाद और देहरादून जैसे सीमा क्षेत्र में गढ़वाली और हिन्दी का तथा नैनीताल के तराई क्षेत्र में कुमाउनी- हिन्दी का मिला जुला रूप दिखाई देता है। उसी प्रकार कुमाऊं गढ़वाल की सीमा-थराली, गवालदम, गैरसैण आदि स्थानों पर गढ़वाली-कुमाउनी दोनों मिश्रित हो गई हैं। कुमाउनी भाषा में बनी प्रथम फीचर फिल्म 'मेघा आ' में यही मिश्रित भाषा प्रयुक्त की गई है। ये दोनों क्षेत्र प्राचीन काल से प्राय: एक ही साम्राज्य के अन्तर्गत रहे। मध्यकाल में कुमाऊं में चन्द और गढ़वाल में पवार राजवंशों का शासन रहा। उस समय सीमा विवाद आदि शासकीय कारणों से दोनों क्षेत्रों के निवासियों में भी दूरी बढ़ गई थी। भारत के अन्य प्रान्तों से यहाँ आने वाले प्रवासी भी दोनों क्षेत्रों की भाषा को अपने-अपने ढंग से प्रभावित करते रहे। इन्हीं कारणों से एक ही प्रकृति की होती हुई भी ये दोनों भाषाएँ परस्पर भिन्न भी हैं।

कुमाउनी या गढ़वाली के अपने भी अनेक उपभेद हैं। गढ़वाली के सन्दर्भ में रतूड़ी (1988) ने लिखा है कि "समस्त गढ़वाल में एक ही प्रकार की भाषा नहीं बोली जाती है, प्रत्येक प्रान्त की भाषा में आपस में अनेक शब्दों में भेद हैं; यद्यपि प्रत्येक प्रान्त के लोग एक दूसरे प्रान्त की भाषा समझ लेते हैं, परन्तु एक दूसरे की भाषा बोल नहीं सकते। नगर कस्बों में जो भाषा बोली जाती है उसको सभी समझ लेते हैं। कुमाऊँनी भाषा और गढ़वाली भाषा में इतना अन्तर नहीं है कि एक दूसरे की बातचीत एक दूसरा न समझ सके"।

इन दोनों भाषाओं की उप बोलियों को पाण्डे (1937 और सांकृत्यायन (1953) ने भी वर्गीकृत किया है, किन्तु रूवाली और चक्रधर बहुगुणा का किया हुआ वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित प्रतीत होता है। रूवाली (1982) के अनुसार कुमाउनी की ही कम से कम दस उप बोलियाँ हैं :

खस पर्जिया, चौगर्खिया, गङोई, दनपुरिया, पछांई, रौचौबेंसी, कुमाई, सोर्याली, सीर्याली तथा अस्कोटी। गढ़वाली के ग्रियर्सन ने आठ भेद किये थे। परन्तु इधर बहुगुणा ने उच्चारण के आधार पर उसके छः भेद किये हैं; जिनको नौटियाल ने भी अधिक व्यवस्थित माना है : बधाणी, सलाणी, जौनसारी, रवांल्टी, वजारी, श्रीनगरी, टिहरियाली, तथा रागसी (नौटियाल, 1988)।

गढ़वाली और कुमाउनी में हिन्दी की सभी ध्वनियों के साथ कुछ अपनी ध्वनियाँ भी हैं; जैसे - अ, आ, ए, ऐ, ओ, औ, ल तथा इ आदि वर्णों की एक से अधिक ध्वनियाँ पाई जाती हैं। ये अतिरिक्त ध्वनियाँ यहाँ की मूल प्राचीन भाषाओं की मानी जाती हैं। इनके मूल स्रोत, विकासक्रम और व्याकरणिक स्वरूप आदि का अभी तक पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया है। वर्तमान समय में अनेक विद्वान इस क्षेत्र में कार्यरत हैं, इससे इन भाषाओं की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ने के साथ-साथ इनके परिष्कार को भी गति प्राप्त हो रही है।

इन दोनों भाषाओं में अधिकांश शब्द संस्कृत के हैं। गुजराती-बंगाली-मराठी आदि भारतीय भाषाओं से समानता वाले अधिकांश शब्द संस्कृत या उर्दू के तद्भव स्वरूप हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं के साथ भिन्न-भिन्न तद्भव शब्दों की समानता पाई जाती है। इसी के अनुसार प्रत्येक सम्बद्ध भाषा का प्रभाव भी माना जा सकता है। कुमाउनी-गढ़वाली में अंगीकृत समोच्चरित समानार्थी शब्दों के कुछ उदाहरण तालिका-1 में दिये जा रहे हैं।

तालिका

कुमाउनी-गढ़वाली में अंगीकृत कुछ समोच्चरित समानार्थी शब्द

उद्गम भाषा	*मूल शब्द*	*कुमाउनी रूप*	*गढ़वाली रूप*	*हिन्दी अर्थ*
संस्कृत	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म
तत्सम	धर्म	धर्म	धर्म	धर्म
	कुशल	कुशल	कुशल	कुशल
	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान
	ध्यान	ध्यान	ध्यान	ध्यान
संस्कृत	हस्त	हाथ	हाथ	हाथ
तद्भव	घर्म	घाम	घाम	धूप
	अंजलि	आँचुलि	अंचुलि	अंजलि
	कर्म	काम	काम	काम
	कर्ण	कान	कान	कान
ब्रज	झगुल	झगुल	झगुल	फ्रॉक
	नोंणि	नोंणि	नोंणि	मक्खन
	ठौर	ठौर	ठौर	स्थान
	नतरि	नतरि	नथर	नहीं तो (अन्यथा)
	निक	निक	निक	अच्छा
अवधी	ढाँट	ढाँट	ढीट	धान का छिल्का
	पातर	पातर	पातर	वैश्या
	कुकुर	कुकुर	कुकुर	कुत्ता
	प्युठ	पिठ	पिठ	चावल का आटा
राजस्थानी	मनड़ि	मुनड़ि	मुंदडी	अंगूठी
	उथ	उथ	उनइ	उधर
	घोगण	घोगण	--	पढ़ाई करना
पंजावी	अकर	अकरो	अकरू	महंगा
	हिटण	हिटण	हिटण	चलना
	आलण	आलण	आलण	दाल गाढ़ी करने हेतु मिलाया जाने वाला आटे का घोल

	शौड़	शौड़	--	कंबल, रजाई आदि का ओढ़न
मराठी	उभीणे	उभीण	उभीणो	खड़ा करना
	लापसी	लापसी	लपसी	एक प्रकार का हलुआ
	ठसक	ठसक	ठसक	धीरे से धक्का देना
	आड	आड	आड	शरीर
	भेटणे	भेटण	भिटण	मिलना
गुजराती	हड़ताल	हड़ताल	हड़ताल	हड़ताल
	खेप	खेप	खेप	बार
	लहाणी/ललणी	लवूण	लोण	काटना (फसल)
	ऊंघ	ऊंघ	ऊंघ	नींद
बंगला	लोड़	लोड़	लोड़	बट्टा
	कुतकुति	कुतक्यालि	कुदगलि	गुदगुदी
	टिपण	टिपण	टिपण	चुनना
	गोरू	गोरू	गोरू	गाय
आग्नेय परिवार	बगड़	बगड़	बगड़	नदी तट की भूमि
	झुंगर	झुंगर	झुंगर	मादिरा (एक मोटा अनाज)
	बौक्कि	बोक्कि	बोकि	बकरा
	काफल	काफल	काफल	एक जंगली फल
	स्यूंण	स्यूंण	सिल्लु	नागफनी
	स्यूण	सिसूण/सिन	सिन	बिच्छू घास
द्रविड़ परिवार	चानी	छान/छानि	छन	गायों के लिए बना कच्चा घर
	कुरे	कुड़	कुड़	मकान
	उक्कलु	उखल	ऊखल	ऊखलै
	उड्डुका	हुड़का	हुड़का	एक बाजा
देशज	सलबल	सलबल	सल्बल	सरसराने जैसी ध्वनि
	टुपुक्क	टुपुक/टुपुक्क	टुपुक	बिन्दे
	क्वाँ-क्वाँ	क्वाँ-क्वाँ	क्वाँ-क्वाँ	चुपके की ध्वनि
	सुरसुर	सुरसुर	सुरसुर	हवा चलने की ध्वनि

स्थानीय	--	न्यार	निराइ	निराला
परस्पर समान	--	वौल	वौल्या	श्रम
शब्द	--	ठेकी/ठ्योक	ठेकी	दही रखने वाला काष्ठ का पात्र
		नाली	नाली	अनाज नापने वाला पात्र
		डोक	डोक	बांस का लंबा टोकरा
		भुला/भुली	भुला/भुली	छोटा भाई/ छोटी बहन
परस्पर भिन्न स्थानीय शब्द		नरै	खुद	याद
		ईजा	बोई	माँ
		भौत	भिंडि	बहुत
		किस्स	पखाड़ा	कहावत
		सुवा	कल्दा	तोता
विदेशी शब्द	गलीचा	गलीचा	गलीचा	गलीचा
	चाकू	चक्कू	चक्कू	चाकू
अरबी	बहादुर	बहादुर	बादुर	बहादुर
	आदत	आदत	आदत	आदत
	आदमी	आदिम	आदम	आदमी
	कसर	कसर	कसर	कमी
	कशूर	कसूर	कसूर	कशूर
फारसी	किताब	किताव	किताव	किताब
	इख्तियार	अख्तियार	अख्यार	अधिकार
	खरीद	खरीद	खरीद	खरीद
	दस्तखत	दस्कत	दस्कत	हस्ताक्षर
	शर्म	शरम	शरम	शर्म
अंग्रेजी	नजदीक	नजिक	नजीक	नज़दीक
	मास्टर	मास्टर	मास्टर	मास्टर
	पोस्टकार्ड	पोस्कार्ड	पोस्कार्ड	पोसटकार्ड
	ग्लास	गिलास	गिलास	ग्लास
	पास	पास	पास	पास
	डॉक्टर	डाक्टर	डाक्टर	डाक्टर

पुर्तगाली	अचार	अचार	अचार	आचार
	आलपीन	आरपिन	आल्पिन	आल्पीन
	इस्त्री	इस्त्री	इस्त्री	इस्त्री
	बटन	बटन	बटन	बटन
	कनस्तर	कंटर	कंटर	कनस्तर
सुमेरी	अन	अन	अन	निषेधात्मक
	उ	ऊ	ओ	वह
	बुति	बिति	बूता	सामर्थ्य
	बोटेन	बोट	--	पेड़
	दगड़	दगाड़	दगड़ि	साथ
	पार	पार	पार	पार
	इजि	इजा	--	माँ

लोक साहित्य परम्परा

दुनिया के सभी भाषा समाजों के साहित्य का प्राचीनतम स्वरूप उनका लोक साहित्य होता है; जिसमें उस समाज की संस्कृति, इतिहास तथा समस्त जीवन-अनुभव और ज्ञान का संचय तो रहता ही है, उसके साथ ही उसमें लोक रंजन के समकालीन एवं शाश्वत तत्व भी विद्यमान रहते हैं। लोक साहित्य किसी भी समाज की सबसे मूल्यवान थाती होती है, उसी में से उसका भावी इतिहास भी गढ़ा जाता है।

उत्तराखंड का लोक साहित्य कितना पुराना है, उसका प्रारंभ कब, किस रूप में हुआ और उसका विकासक्रम एवं विकास-स्वरूप कैसा रहा; यह ठीक-ठीक कहना आज कठिन है, क्योंकि इसके प्राचीन स्वरूप के ठोस प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन फिर भी ऐसे अनेक अवशेष अभी भी उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि हिमालय में मानव का निवास आदिकाल से ही था। यहाँ का गुफावासी मनुष्य भी चित्रकारी, नृत्य तथा अभिनय आदि द्वारा अपनी अभिव्यक्ति किया करता था, तो स्वाभाविक तौर पर इसके साथ ही लोकगीतादि की अभिव्यक्ति भी हो रही थी, क्योंकि हर्ष-शोकादि भावों की प्रथम अभिव्यक्ति मनुष्य ध्वनि व उद्‌गार के द्वारा ही करता है। अकेले में या समूह में नाच-गाकर आनन्दानुभूति पाने की वृत्ति मनुष्य में आदिकाल से ही रही है। कुमाऊं-गढ़वाल में प्राप्त हो रहे प्राचीन शैल चित्रों की नृत्य मुद्राएँ इस मान्यता की पुष्टि करती हैं कि यहाँ का तत्कालीन गुफावासी मानव नृत्य-संगीतादि से अपना मनोरंजन करता था, किन्तु उस काल के या उसके पश्चात, के गीतादि उपलब्ध नहीं होते, न ही भाषा का कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध होता है। लिखित

भाषा से पूर्व मौखिक परम्परा से लोकसाहित्य का संचयन और संवहन बहुत अच्छी तरह से होता था। काल क्रमेण भाषिक परिवर्तनों के साथ-साथ उस संचरण का रूप भी बदलता गया। भाषा का लिखित रूप आने के बाद से प्राचीन लोक साहित्य का विलुप्त होना और भी स्वाभाविक है, इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि जितनी पुरानी उत्तराखंड की भाषा और बोलियाँ हैं, उतना ही पुराना यहाँ का लोक साहित्य भी है। यह अपनी बोली के साथ-साथ ही विकसित हुआ। यहाँ की प्रकृति, जलवायु एवं विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों का यहाँ के लोक जीवन तथा उसकी अभिव्यक्ति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ के पर्वोत्सवों, मेलों, व्रतों, सांस्कृतिक समारोहों और धार्मिक अनुष्ठानों आदि के अवसर पर यहाँ के लोकसाहित्य के विविध रूप प्रकट होते हैं। उनमें प्राचीन काल से लेकर आज के नव स्फुरित लोक काव्य तक का श्रवण-दर्शन किया जा सकता है।

वर्गीकरण

अभिजात साहित्य की भाँति लोक साहित्य के भी दृश्य-श्रव्य दोनों रूप होते हैं। किन्तु उक्त साहित्य की कई विधाओं में श्रव्य और दृश्य के गुण एक साथ पाये जाते हैं। सभी प्रकार के नृत्यगीत और गाथा-वाचन साभिनय होने के कारण ये दृश्य-श्रव्य दोनों माध्यमों में आते हैं। श्रव्य माध्यम को लोक साहित्य का प्रधान अंग मानकर उसके आधार पर समग्र लोक साहित्य को तीन रूपों में विभाजित किया गया है; गद्य, पद्य और चम्पू। गद्य साहित्य के अन्तर्गत लोक कथाएँ, मुहावरे, कहावतें और लोक प्रचलित मंत्र साहित्य उपलब्ध होता है। जागर आदि गाथाएँ, तथा मुक्तक गीत पद्य में एवम् चम्पू के अन्तर्गत गद्य-पद्यात्मक शैली में प्रत्येक प्रबन्ध में उपलब्ध होते हैं। साहित्य स्वरूप की दृष्टि से आलोच्य क्षेत्र का लोक साहित्य इस प्रकार विभाजित किया जाता है :

लोक गीत
लोक गाथा
लोक कथा
लोक नाट्य एवं नृत्य

प्रकीर्ण लोक साहित्य
लोकोक्ति
मुहावरे
पहेलियाँ।

लोकगीत

कुमाऊं-गढ़वाल के लोक गीतों की परम्परा बहुत पुरानी है, किन्तु उसके मूल रूप आज सुरक्षित नहीं हैं। आजकल यहाँ गाये जाने वाले लोक गीतों के प्रमुख रूप इस प्रकार हैं – संस्कार गीत; नृत्य गीत; झोड़ा, चांचरी, छपेली, थड्या, चौंफुला, छोपती, प्रणय गीत, ऋतुगीत, वसन्त के गीत, श्रतुरैंण, खुदेड़, होली, बारहमासा, देवी-देवताओं सम्बन्धी गीत; अन्य गीत, बैर, छूड़े, कृषि गीत, बाल गीत, सामायिक गीत आदि।

लोक गीत लोक साहित्य की सबसे पुरानी विधा होते हुए भी आज पुराने गीत अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हो पाते; क्योंकि मौखिक परम्परा में सुरक्षित रहने वाले इन गीतों में स्थान, समय और स्थिति के अनुसार प्रक्षेपण और परिवर्तन भी होते रहते हैं। कुछ गीत अपने समय में अत्यधिक लोकप्रिय होते हैं और कुछ काल पश्चात् समय की गर्त में विलीन हो जाते हैं। कुछ ही गीत हैं जो दीर्घ अवधि तक अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुवे आगे बढ़ते हैं। इनमें हम यहाँ के संस्कार गीतों को ले सकते हैं। ये गीत प्रकारान्तर से संस्कारों से जुड़े हुवे वैदिक मंत्रों के ही भाषान्तर होते हैं और प्रत्येक संस्कार पर अनिवार्य रूप में गाये जाते हैं। इसलिए इनमें रूप परिवर्तन की सम्भावना सबसे कम है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य प्रकार के लोकगीत सिर्फ सामायिक ही होते हैं। उनका सौन्दर्य और जीवन-दर्शन भी दीर्घजीवी होता है, किन्तु उनके उद्गमकाल और उनके प्रवाह में आने वाले विविध मोड़ों के समय आदि के विषय में निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्राचीन लोक साहित्य के स्वरूप, भाषा-शैली तथा वर्ण्य विषय आदि के प्रमाण लोक गीतों और गाथाओं में ही सबसे अधिक मिलते हैं। इनकी प्राचीनता के विषय में गोविन्द चातक (1968) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "यदि 600 ई. पूर्व भारतीय बोलियों का काल माना जाय तो भी गढ़वाली और कुमाऊँनी के लोकगीतों की परम्परा बहुत पुरानी मानी जा सकती है।" यहाँ के लोक गीत अपनी युगभावना को भी प्रकट करते हैं। घटनाप्रधान

गीतों के आधार पर उनके रचना काल का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। प्रारंभिक काल के धार्मिक गीतों में ऐतिहासिक युग के प्रथम चरण की छाप स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती है। उसके बाद के गीत वीर रस प्रधान गीतों में वीरगाथा काल और सामंतीयुग का प्रभाव तथा तदनन्तर के श्रृंगार प्रधान गीतों एवं कूटनीतियों-षडयंत्रों के वर्णनों से भरे गीतों व गाथाओं में चंद एवं पवार युग के समाज तथा राजकीय स्थिति की छाप दिखाई देती है। गोर्खा और अंग्रेज शासन काल के गीतों का प्रधान वर्ण्य विषय शासकों द्वारा किया जाता अत्याचार और सामाजिक कठिनाइयाँ हैं। इस प्रकार यहाँ के लोकगीत प्रत्येक युग का सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

यदि प्रारंभिक धार्मिक गीतों का परीक्षण किया जाय तो ये हमें प्रागैतिहासिक युग तक ले चलते हैं। पूजा-उपासना सम्बन्धी गीत वैदिक ऋचाओं का स्मरण कराते हैं। जय, यश और सन्तति की जो कामना उनमें अभिव्यक्त हुई है, वह रूपं देहि जयं देहि, यशो देहि, द्विषां देहि, जैसी प्राचीन उक्तियों से सीधा साम्य रखती है।

शास्त्रों में सोलह संस्कारों का विधान है। प्राचीनकाल में ये सभी संस्कार विधिवत सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु आज प्रमुख रूप से केवल जन्म, विवाह और मृत्यु सम्बन्धी संस्कार ही मनाये जाते हैं। कुमाउनी-गढ़वाली जन समाज में मृत्यु संस्कार को छोड़कर शेष समस्त संस्कारों के समय स्त्रियों द्वारा गीत गाये जाते हैं। वस्तुतः संस्कारगीत स्त्रियों की ही सम्पत्ति हैं। स्त्रियों ने ही समय-समय पर विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गा-गाकर इन्हें आज तक सुरक्षित रखा है।

उत्तराखंड के लोक समाज में कुछ ऐसे संस्कार गीत प्रचलित हैं, जो किसी भी शुभ कार्य अथवा संस्कार के आरंभ में अवश्य गाये जाते हैं। इन्हें हम सामान्य संस्कार गीत कह सकते हैं। कुमाऊं में इन्हें "शकुनाखर" और "न्यूतण" कहा जाता है। गढ़वाल में कभी इनके लिए "मांगल" शब्द प्रयुक्त होता था, परन्तु आज मांगल शब्द केवल विवाह गीतों के लिए ही रूढ़ हो गया है।

सामान्य गीतों में सर्वप्रथम मंगलकामना के गीत गाये जाते हैं। एक कुमाउनी गीत में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है–

कुमाउनी – शकूना दे शकूना दे
काज ए अती नीको।
शुभ रंगीलो, दायिनी, बाजनी, शंख शबद, दैणी तील, भरियो–
कलश, पाटलो, अंचली कमल को फूल,
सोही फूल मोलावंत गनेश, रामीचन्द्र लछीमण, भरत शतुर
लव कुश
जीवा जनम आद्या अमरू होइ।
सोही पाटु पैरी रैना सिद्धि-बुद्धि,
सीता देही, उरामिणी, दोलाहीणी आईवंती पुत्रवंती होइ।

एक अन्य गीत में पंच देवता, भुम्याल, गणेश आदि देवताओं के अनुकूलन होने की प्रार्थना की गई है –

दैना होया दैना होया थोरू रे पितर
दैना होया दैना होया पंच रे देपतो।
दैना होया दैना होया भूमि का भुम्याला
दैना होया दैना होया खोली का गणेश
दैना होया देना हौया पयाले बासुरी।

मंगलकामना से सम्बन्धित यही भाव एक गढ़वाली गीत में भी व्यक्त हुआ है। उसमें कूर्म देवता, धरती माता, भूम्याल तथा पंच देवों से शुभ कार्य की सफलता के लिए कामना की गई है–

गढ़वाली – बोला बोला, सगुन बोला
जो जस धान, कुरम देवता
जो जस धान, धरती माता
जो जस धान, खोली का गणेश
तुम्हारी थातीमा यो कारज वीरे
यो कारज सुफल फल्यान।

एक अन्य गढ़वाली गीत में कौवे से चारों दिशाओं के शकुन बोलने को कहा गया है तथा बदले में उसे दूध-भात तथा पूरी आदि देने का वचन दिया गया है–

आवा कागा बैठा कागा हरिया वृक्षा
बोल कागा बोल कागा चौदिसो सगुन
त्वे द्यूंलो कागा मैं दूध-भाती पूरी
बोल कागा बोल कागा चौदिसो सगुन
विचारा ब्रह्मा जी कागाकी बोली
सगुनो कागा सगुनो बोललो
सगुनो कागा सगुनो बोललो।

शुभ कार्य में सम्मिलित होने के लिए विभिन्न देवी-देवताओं तथा सामाजिक व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया जाता है। एक कुमाउनी न्यूतण गीत में, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, गणेश आदि प्राकृतिक शक्तियों तथा देवताओं के पश्चात् ब्राह्मण, बढ़ई, अहीरन, मालिन आदि सामाजिक व्यक्तियों को भी निमंत्रण दिया गया है –

कुमाउनी – आज बधाइए न्यूतिए
प्रात जो न्यूतुं मैं सुरिज, किरणन को अधिकार
समाए बधाइए न्यूतिए
साँज जो न्यूतं, मैं चन्द्रमा, तारन को अधिकार
समाए बधाइए न्यूतिए
गणपति न्यूतुं मैं काज सों, बरमा-विष्णु न्यूतुं में काज सों।
गणपति सिद्धि कराय, बरमा-विस्नु, सिरिस्टि रचाय
समाए बधाइए न्यूतिए।
ब्राह्मण न्यूतुं मैं काज सों, बढ़ैइया न्यूतुं मैं काज सों
ब्राह्मण वेद पढ़ाय, बढ़ैइया चौक ले आय
समाए बधाइए न्युतिए
अहिरनि न्यूतुं मैं काज सों, गुजरिन न्यूतुं में काज सों।
अहीरनि दूध ले आय, गुजरिन दइया ले आय।
समाए बधाइए न्यूनिए।

गढ़वाली गीत में सर्वप्रथम वेदमुखी ब्रह्मा को निमंत्रण दिया गया है। तत्पश्चात् औजी, गीत गाने वाली स्त्रियाँ, हल्दी की बाड़ियों तथा धान की क्यारियों को भी निमंत्रण दिया है –

गढ़वाली - पैले न्यूते पैले न्यूते बेद मुखी ब्रह्मा
आज चैंद ब्रह्माजी को काज
तब न्यूते औजी को बेटा
आज चैंद बढ़ै को काज
आज न्यूतीयालीन मैंन मंगलयानी नारी
आज चैंद मांगल को काज।
आज न्यूतीयालीन हल्दानु की बाड़ी,
आज चैंद हल्दी को काज

गणेश पूजा, मातृ पूजा, आवदेव, पुण्यावाचन, कलश स्थापन, नवग्रह-पूजा तथा अग्नि स्थापन आदि कर्मों से सम्बन्धित गीत भी सामान्य गीतों की श्रेणी में ही आते हैं। कुमाऊं में इन सभी कर्मों से संबंधित गीत प्राप्त होते हैं। गढ़वाल में इन कर्मों से संबंधित गीत आज लुप्त प्रायः हो चुके हैं। वहाँ प्रमुख रूप से गणेश पूजा तथा अग्नि स्थापना से सम्बन्धित गीत ही मिलते हैं। अग्नि स्थापना का गीत दोनों अंचलों में पर्याप्त समानता लिए हुए है। एक गीत में अग्नि की चारों दिशाओं में खोज की गई है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में कहीं न मिलने पर पीपल के वृक्ष के नीचे उसकी प्राप्ति होती है। उनसे मृत्युलोक में आने की प्रार्थना की गई है, किन्तु, वे पूछते हैं कि तुम्हारे देश में कैसे आयें? वहाँ तो अनुचित कार्य हो रहे हैं–ज्येष्ठ भ्राता पैदल चलता है, कनिष्ठ भ्राता घोड़े पर, आदि। यही भाव गढ़वाली गीत में भी व्यक्त हुआ है। उसमें भी अग्नि से मातृलोक में आने का निवेदन किया है, क्योंकि उनके बिना ब्रह्मा भूखे रह गये हैं-

गढ़वाली – ऐ जा अगनी मेरा मात लोक मेरा मात लोक,
त्वे बिना अगनी ब्रह्मा भूखा रैगे, भूखा रैगे।
कसिकै कि औलू कसिकैकि औलु मैं तेरा मात लोक,
तेरा मातालोक यो बुरो अत्याचार, बुरो अत्याचार।

ये गीत इस क्षेत्र के सामाजिक-धार्मिक जीवन की वैदिक युग से आज तक की परम्पराओं के प्रामाणिक दस्तावेज हैं, जिनमें देवताओं के साथ-साथ प्रकृति पूजा एवं सभी जातियों के मनुष्यों के सम्मान की अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार प्रत्येक संस्कार सम्बन्धी गीत में अनुष्ठानों की प्रकृति, विधि एवं सामाजिक प्रतिक्रिया भी व्यक्त होती है।

जन्म सम्बन्धी गीतों में विषय की दृष्टि से वैविध्य एवं विस्तार पाया जाता है। कुछ गीत ऐसे भी हैं जो जन्म के उपरान्त गाये जाते हैं, लेकिन वे जन्म के पूर्व संस्कारों से सम्बन्धित हैं। कहीं पुत्र की कामना की गई है तो कहीं गर्भावस्था की विभिन्न दोहदेच्छाओं और मनः स्थितियों का वर्णन है। कुछ गीतों में पुत्र जन्म होने पर उल्लास एवं आनन्द मनाने की चर्चा की गई है। ननद-भावज का झगड़ा तथा नारी की संकुचित मनोवृत्ति भी कुछ गीतों में स्पष्ट होती है। इन गीतों में पुत्र को राम, कृष्ण, लव, कुश आदि कहा गया है। एक गीत में पुत्र को देवताओं का 'जाया' कहा गया है–

गढ़वाली - पैले धरती उपजे फिर उपजे अगास
तब उपजे पौन-पाणी।
महादेव घर बेटा उपजे, सूर्ज घर अपजे कर्ण राजा
नंदू का घर नारेण जरमे (जन्मे)
नारेण जरमे कि बालक जरमे
बालक जरमे देवताओं का जाये।

एक अन्य गीत में पुत्र प्राप्त करने के लिए माँ द्वारा की गई तपस्या, त्याग एवं कष्टों का उल्लेख मिलता है। उसके कुल दीपक बनने की आकांक्षा की गई है–

गढ़वाली – तू होलो मेरा तपस्या को जायो
तेरी जिया ब्वैन ख्वार कैन कर्म
तू बणलो बाला कुल की जोत।

पुत्र कुल को चलाने वाला होता है। इसलिए उसे कुलदीपक कहा गया है। एक कुमाउनी गीत में भी पुत्र को कुलदीपक कहा गया है–

कुमाउनी – पितरों ले सपन देखायो आहो कुलदीपक, आहो कुल मंडप
ए जाग दिएड़ा, जाग हो दियड़ा, तैसा सोहे रामीचंद
पितरों ले सपन देखायो, भलो-भलो सपन दिखायो।
भली करी सीता देही, रानी भली करी रानी बहुरानी
बहुओं ले भरि है रसोई आहो कुल दीपक।
एक कुल उजियाला बाबुल को
दूसरी ससुर दरेवार, तिजो सैंया जी को राज, लला को काज
आहो कुल मंडप आहो कुल दीपक पितरों ले सपन दिखायो।

पुत्र जन्म पर सर्वत्र प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। नामकरण के अवसर पर गाये जाने वाले एक गीत में उल्लास और आनन्द मनाने का उल्लेख हुआ है–

कुमाउनी – रामीचंद दरेवार लछिमन दरेवार बधाइये रातो ए।
तुम तो उठवनि हो बहुआ सीता देहि, बहुआ बहुराणि
ओड़ दक्षिण की चीर।
हम तो ओड़ि रहे, हमतो पैरि रहे, अपने पिया परसाद
ससुर दरेवार लला को काज,
सैंया को राज बधाइये रातो ए।

गढ़वाली गीत में बधाइयाँ गणेश, विष्णु, लक्ष्मी इत्यादि देवी-देवताओं के आंगन में बज रही हैं–

गढ़वाली – बोला बोला सगुन बोला सगुन बोलः
गणपति आँगुणी ओ बढ़ई वाजे
सिद्धि-बुद्धि देवी का घर आनन्द छाये
विष्णु जी का आँगुणी बढ़ई बाजे
ब्रह्मा जी का आँगुणी बढ़ई बाजे।
बाबा जी का आँगुणी बढ़ई बाजे।
माँ जी का धौली घर बढ़ई बाजे।

कुमाऊं में नामकरण के अवसर पर गाये जाने वाले आनन्द गीतों में सूर्य दर्शन, 'ज्यूँति पूजा' तथा सेली के गीत प्रमुख हैं। गढ़वाल में ये गीत नहीं मिलते। वस्तुतः

कुमाऊं में गढ़वाल की अपेक्षा जन्म संबंधी गीत अधिक हैं और उनकी भाव-भूमि भी काफी विस्तृत है। जन्म संबंधी अन्य गीतों में 'खेलंती नार', नारंगी, नींबू तथा तिलड़ी इत्यादि काफी प्रसिद्ध हैं। इन गीतों में जहाँ एक ओर विभिन्न लोकाचार तथा प्रथाएँ व्यक्त हुई हैं, वहीं गर्भावस्था में नारी की दोहदेच्छाओं (औछन), नवप्रसूता की मनःस्थिति, सास-बहू तथा नन्द-भाभी के आपसी सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ा है।

संस्कार विशेष सम्बन्धी दूसरे प्रकार के गीत यज्ञोपवीत से सम्बन्धित हैं। कुमाऊं-गढ़वाल में समान रूप से यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है। कुमाऊं में उपनयन संस्कार के दिन ही कर्ण वेध एवं चूर्णाकर्म संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। गढ़वाल में चूड़ाकर्म संस्कार अलग से बचपन में ही कर दिया जाता है। चूड़ाकर्म संस्कार से सम्बन्धित एक गढ़वाली गीत में नाई से शिशु को पीड़ा न पहुँचाने के लिए निवेदन किया गया है। उसके बदले उसे अनेक वस्तुएं- खड़ाऊँ, कुंडल, कपड़े, रेशमी पगड़ी इत्यादि देने के लिए कहा गया है–

गढ़वाली – नाई रे नाई तू मेरा भाई, धर्म को भाई
मेरा लाड़ा पीड़ा न लाई, पीड़ा न लाई।
त्वै द्यूंलौ नाई में कानो कुंडल शाल दुशाला।
त्वें द्यूंलौ में पाऊँ खड़ाऊ हाथ जगत
त्वैं द्यूंलौं नाई में जरिद कपड़े, रेशमी पगड़ी
मेरा लाड़ा पीड़ा न लाई तू पीड़ा न लाई।

नाई से पीड़ा न पहुँचाने का यह आग्रह एक कुमाउनी गीत में भी मिलता है–

कुमाउनी – नाऊ बेटा नाऊ बेटा पीड़ जन करिये।
यों रे केशा यों रे केशा दूदलै धोया।
अमिरत सींचा, घिरतै लै पौंछा
इनुरै केशा पीड़ जन करिये
माई तेरी सीता देहिलै अंचलि करैछ।
बहिना तेरी सुभद्रा देहिले थालि छोड़ैछ
मेरा बाला कें पीड़ जन करिये।

गृह जाग और उपनयन के अलग-अलग गीत हैं। गृह जाग के गीतों में यज्ञशाला निर्माण तथा उसके उपयुक्त लकड़ी काटने, समिधा सामग्री एकत्र करने तथा दीपक जलाने आदि का वर्णन हुआ है। उपनयन से सम्बन्धित गीत उन कृत्यों से सम्बद्ध हैं, जो इस संस्कार में किये जाते हैं।

इनमें 'लटी न्यूतण', 'काशी लगूण', 'जन्यो पैरूण' आदि गीत प्रमुख हैं। कुमाउनी के जनेऊ पहनाने विषयक गीत में ब्राह्मण द्वारा सूत कातने तथा परिवारिक लोगों द्वारा कपास बोने-गोड़ने आदि का वर्णन मिलता है। जनेऊ पहनाने का वर्णन गढ़वाली गीतों में भी ऐसे ही है।

भली-भली पुगड़ियोंन बोई छ कवास बोई छ कवास
भाई बैण्याने मिलि गोड़ी छ कवास, गोड़ी छ कवास
उनिया-धुनिया न मिलि धूनि छ कवास, धूनि छ कवास
माँजी-भौजी न मिलि काती छ कवास काती छ कवास
ब्रह्मा का बेटा न बटि छ जनेऊ नौतड्या जनेऊ।

एक प्रमुख गीत में पुत्र अपने पिता से योग्य गुरू ढूँढ़ लाने का अनुरोध करता है-

लावा मेरा पिता जी ब्रह्मा ढूँढी लावा
आज चैंदो छ वेदमुखी ब्रह्मा।
य तो कारिज सुफल फलीन सुफल फलीन
आज छ बेटा को जनेऊ
न्यूती आवा वेदमुखी ब्रह्मा
गयापुरी मा होलो गौतिम को बेटा
गोतिमक बेटा होलो उत्तिम ब्रह्मा
जो जस देणा भूमि को भूमिया
जो जस देणा पितर देवता।

संस्कार विशेष सम्बन्धी तीसरे प्रकार के गीत विवाह के हैं। वर्तमान समय में कुमाऊं एवं गढ़वाल में विवाह संस्कार ही उत्साह एवं उल्लासपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। यही कारण है कि तत्सम्बन्धी गीतों की संख्या भी अधिक है एवं वर्ण्य विषय भी विस्तृत

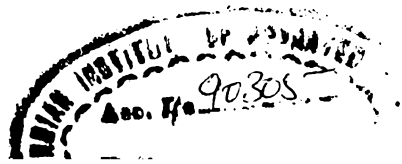

है। वस्तुतः कुमाऊं गढ़वाल में विवाह की कोई भी क्रिया बिना गीतों के सम्पन्न नहीं होती है। विवाह गीत वर तथा कन्या दोनों के घरों में गाये जाते हैं, जिससे इनको वर पक्ष के गीत तथा कन्या पक्ष के गीतों के रूप में अलग-अलग भागों में बाँट गया है। वर पक्ष के गीतों की संख्या बहुत कम है। विवाह सम्बन्धी अधिकांश गीत कन्या पक्ष के ही हैं। इन गीतों में जहाँ एक ओर स्त्रियों की कोमल एवं सूक्ष्म भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है, वहीं उनकी दूरदर्शिता का भी परिचय मिलता है।

गढ़वाल में विवाह गीतों को सामान्यतः मांगल कहा जाता है। कुमाऊं में इस प्रकार का कोई विशेष नाम उन गीतों के लिए नहीं मिलता है। ये गीत विवाह की विभिन्न क्रियाओं और अनुष्ठानों से सम्बन्धित होते हैं। सामान्यतः ये गीत वर या वधू के स्नान करने, सुवांल पथाई करने, वस्त्राभूषण पहनने, बारात प्रस्थान व आगमन, धूलिअर्घ्य, कन्या दान, भाँवरें फेरने, बारात विदा करने और वधू को गृह प्रवेश कराने के समय गाये जाते हैं। अधिकांश गीतों में कन्या की भावनाओं एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है। कुछ गीतों में कन्या के माता पिता की जिज्ञासाओं का वर्णन भी हुआ है। विवाह में गालियों का अपना अलग ही महत्व है। इनकी प्रथा प्राचीनकाल से चली आ रही है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने भी राम के विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा मधुर गाली देने का उल्लेख किया है। भारत के अन्य प्रान्तों की भांति कुमाऊं-गढ़वाल में भी भोजन आदि के समय स्त्रियाँ बारातियों पर मधुर गालियों की वर्षा करने में नहीं चूकतीं।

विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम मंगलाचरण सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं। मंगलाचरण के उपरान्त स्वजनों को निमंत्रण दिया जाता है। एक कुमाउनी गीत में तोते से कहा गया है कि वह सभी इष्ट मित्रों को निमंत्रण दे आये–

कुमाउनी – सुवा रे सुवा वणखंडी सुवा, हरिया तेरो गात,
पिंगल तेरो ठूना, लला तेरी आँखी, नजर तेरी बाँकी
जा सुवा नगरि न्यूँत दि आ।
नौं नि जाणन्यूँ, गौं नि पछयाणन्यूँ कै घर कै नारि न्यूत
ब्रह्मपुरी गौंछ, लछिमी देही नौछ,
उनरा पुरीष नारायण नौछ, वी नारी वीं पुरीष न्यूत

अधिल अधिवाड़ी पछिल· फुलवाड़ी
छाजो बैठन छन· झरोखा देखन छन
हाथ छ वेदा गोदी छ चेला आ बेटी खिलकनी मैत।

गढ़वाली गीत में भी निमंत्रण के लिए सन्देश वाहक तोते को ही बनाया गया है। भाव की दृष्टि से कुमाउनी एवं गढ़वाली गीत में पर्याप्त समानता है–

गढ़वाली – पिंजरी का सुवा कटारी का सुवा
सुन पंछी सुआ, लाल पंछी सुआ
दे सुआ तू सुहागणियों न्यूतो
ब्रह्मा जी घर होली सावित्री देवी
वी घर वी देवी तुम न्यूती आवा
विष्णु का घर होली लक्ष्मी देवी
वीघर वी देवी तुम न्यूती आवा।

स्नान के समय के गीत में कुंकुम, कस्तूरी, हल्दी तथा तेल आदि से स्नान कराने का वर्णन है–

उपटण दलिये मलिये मैल छुड़ाइए
गंगा जमुना मिलि आई तो बालो नवाइए कलेस भराइए
भाई-बहिनी मिलि आए तो बालो नवाइए।

लोकगीतों के इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजनैतिक दृष्टि से अनेक युगों और प्रवाहों से गुजरने के बावजूद उत्तराखंड के सांस्कृतिक जीवन में आज भी वैदिक प्रभाव है। प्रत्येक संस्कार में प्रकृति और देवताओं की उपस्थिति अनिवार्य है। इन गीतों में पूर्व मध्य काल में यहाँ पनपी ब्राह्मण संस्कृति का अधिक प्रभाव लक्षित होते हुए भी इसमें मूल परम्पराओं के अंश भी विद्यमान हैं। इन संस्कार गीतों को संरक्षण और गतिशीलता प्रदान करने का श्रेय भी ब्राह्मण स्त्रियों को ही जाता है।

प्राचीनकाल की गाथाएँ, पांडवगीत तथा क्षेत्रपाल आदि देवताओं के गीत संस्कृति के आरंभिक स्तर की ओर संकेत करते हैं। ऐसे ही अनेक गीत उस युग के यक्ष पूजा

इत्यादि परंपराओं के परिचायक भी हैं, जैसे–

देव खतेरपाल, घडी-घड़ी का विघ्न टाल,
माता महाकाली का जाया
चंड भैरों खेतर पाल।
प्रचंड भैरों खेतर पाल,
काल भैरों खेतर पाल।
माता महाकाली का जाया
बूढ़ा रूद्र का जाया
तुमरो ध्यान जागो।

इस गीत में क्षेत्रपाल को काली और रूद्र का बेटा बताया गया है। यक्षों की परम्परा नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय के योगियों ने अपनाई। उनके समन्वय का सूचक काली और रूद्र का पुत्र क्षेत्रपाल है। कई स्थानों पर क्षेत्रपाल की पूजा गोरखनाथ के शिष्य के रूप में भी की जाती रही है। सिद्ध और नाथ संस्कृति का प्रभाव कई लोकगीतों में व्यक्त हुआ है। भारतवर्ष में राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति की भक्ति को लेकर जो विविध धाराएँ चलती रहीं, उनका उल्लेख भी इन गीतों में मिलता है। जागर और संस्कार गीत (मांगल गीत) स्पष्टतः प्राचीनतम गीत कहे जा सकते हैं। उनमें तात्कालीन मानव की धर्म भावना व्यक्त हुई है। प्रारंभिक लोक गीतों व गाथाओं में सृष्टि रचना से लेकर देवी-देवताओं, लोक देवताओं तथा स्थानीय सामंतों के चित्र मिलते हैं। इन देवी-देवताओं में शिव-पार्वती (गौरा-मैसर) विष्णु, काली तथा नाग देवता का प्राधान्य पाया जाता है। लोकगीतों में सृष्टि रचना से लेकर समसामायिक घटनाओं तक का वर्णन मिलता है–

जलथल भूमी, तब परसु पाखाण क्वे नी छी
त दिन भगीबाना, सुना-रूपी गरूरी भई

जल-थल भूमि थी और कुछ न था। भगवान ने सुनहरे-रूपहले गरूर-गरूरी बनाये। उनका अंडा फूटने से ब्रह्माण्ड की रचना हुई। अंडे के ऊपर का आधा भाग नौखण्डी आकाश बना, आधे भाग केसर से अमृत लोक बना और निचले भाग से तीन ताल

धरती बनी। फिर धरती में मनुष्य बना। मनुष्य राख का - मनुष्य खाक का, मनुष्य लाख का। इस तरह भगवान ने सृष्टि बनाई।

भूमिया देवता – भूमि का भुम्याला देबा...
धूणी का धूम्याला देबा...

बाहरी सामाजिक तत्वों के आने के साथ पौराणिक देवी-देवताओं के गीतों की इस श्रृंखला में रामायण एवं महाभारत के नायक तथा कुछ अन्य चरित्र भी सम्मिलित होते रहे। शुरूआत में पौराणिक देवता फिर स्थानीय देवताओं की स्तुति भी की जाने लगी-

पूरबी को दिन पश्चिम न्हैगोछ
शिरी समुद्र बटी संध्या झुली ऐ छ हो
शिव की कैलासा बटी संध्या झुली ऐ छ हो
राम की अजुध्या बटी संध्या झुली ऐ छ हो
कृष्ण की द्वारिका बटी संध्या झुली ऐ छ हो।

उत्तराखंड का जो भी लोक साहित्य आज उपलब्ध होता है, उसमें सबसे प्रारंभिक साहित्य धर्म से जुड़ा हुआ है और इसमें स्थानीय संस्कृति की प्रारंभिक स्थिति का परिचय मिलता है। वह मुख्यतया लोक कल्याण की भावना से जुड़ा हुआ था। जिस प्रकार आर्यों के ऋग्वेद कालीन साहित्य में लोक कल्याण तथा प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को देवता मानकर उनकी स्तुति द्वारा मानव और सृष्टि के लिए मंगलकामना की गई है, उसी प्रकार कुमाऊं-गढ़वाल के गीतों में भी कामनाएँ की गई हैं कि गायें दूध अधिक दें, भैंस बाँझ न रहे, फसल अच्छी हो, अवर्षण न हो, आधि-व्याधियाँ न आएँ, लड़कियों को समवयस्क जोड़ी मिले, इत्यादि। रोग-शोक इत्यादि के निवारण हेतु उचैंण, औंजो-झाड़ों, रखवाली, भेद, झाड़-फूंक, देवता नचाना इत्यादि आज भी प्रचलित है। देवता नचाते समय जागर गीत व गाथाएँ गायी जाती हैं। भिन्न-भिन्न सम्पत्ति और समृद्धि के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं को बुलाया जाता है। यह प्रथा आदिकाल से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी पौराणिक उदाहरणयुक्त गीत गाना अनिवार्य माना जाता है। मंगल कार्यों की प्रत्येक विधि किसी न किसी देवता और आदर्श से सम्बद्ध मानी जाती है; जैसे वर-वधू का वर्णन प्रायः राम-सीता, शिव-पार्वती,

विष्णु-लक्ष्मी, गणेश-सिद्धि-सिद्धि के रूप में ही किया जाता है। तंत्र-मंत्र, जादू- टोना, प्रकृति पूजा इत्यादि धर्म के साथ ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें अलग कर पाना मुश्किल होता है। जीव-मातृकाओं, नाग यक्ष, अप्सरा इत्यादि की मनौती और आवाहन के साथ-साथ इनके गीत भी गाये जाते हैं। नाग पंचमी, नाग पूजा तथा कृष्ण को नागराजा के रूप में नचाने आदि में पौराणिक प्रभाव तो दिखता ही है, साथ ही यहाँ पर रहे नाग जाति के आधिपत्य को भी सूचित करता है।

लोक गाथाएँ

कुमाऊं-गढ़वाल की उपलब्ध गाथाओं के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि सामंतवादी व्यवस्था के आरंभ होने से पूर्व ही इनकी रचना लोक में व्याप्त थी। 'पवाड़ा' और 'भड़ौ' को उत्तराखण्ड में कत्यूरी शासन के बाद हुए अनेक सामन्तों के प्रशस्ति गीत कहा जा सकता है। उस काल में सत्ता के लिए लड़ने वाले छोटे-छोटे सामंतों या भड़ों के अपने-अपने चारण होते थे, जो युद्धस्थल में चंफ और हुड़कों को बजाते थे तथा वीरों के प्रशस्ति गीत रचकर गाते थे। चंफ्या, हुड़किया, भाट इत्यादि इन्हीं गायकों के वंशज माने जाते हैं। इस पूरे क्षेत्र में प्रचलित वीर गाथाऐं सातवीं से सत्रहवीं सदी ई. के बीच रची गई प्रतीत होती हैं। सबसे पुराने वीर गीत पवाड़े और रमौल गाथाएँ हैं। बफौल गाथा का रचनाकाल चंद शासन के समय का माना जा सकता है। रमौल के नायक कत्यूरी शासकों की भाँति सूर्यवंशी थे और कुमाऊं-गढ़वाल के पूरे क्षेत्र में व्याप्त थे। उनकी गाथा भी समग्र उत्तराखंड में प्रचलित रही है। इसके साथ ही इस गाथा में आने वाले अतिमानवीय पात्र आँचरी-चाँचरी इत्यादि तथा फैंटेसी युक्त घटनाएँ भी इसकी प्राचीनता की पुष्टि करती हैं। जागर उन ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा देवी-देवताओं की लोकवार्ताएँ हैं, जो अपने समय में महा क्रूर या जनहितैषी रहे। जो क्रूर रहे उन्हें दुष्टात्मा तथा जो जनहितैषी रहे उन्हें देवता के रूप में गाया- पूजा जाता रहा है। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत काली, हनुमान, आदि की लोकवार्ताएँ भी आती हैं।

अन्य भारतीय साहित्यों की भाँति कुमाऊं-गढ़वाल का आदि मध्यकालीन साहित्य भी वीर गाथाओं से समृद्ध रहा है। वीरगीतों के साथ-साथ श्रृंगार गीत भी प्रचलित थे। प्रेम और श्रृंगार प्रधान गाथाओं की परम्परा बहुत पुरानी है। वैदिक काल से मध्यकाल

तक उनमें बहुत से समान तत्व पाये जाते हैं। फिर भी उत्तराखंड में प्रचलित प्रेम काव्यों का रचनाकाल मध्ययुग ही माना जाता है। उससे पहले स्थानीय जातियों के छुट-पुट गीत अवश्य प्रचलित रहे होंगे, किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं होते। उपलब्ध गाथाओं के काल के विषय में परशुराम चतुर्वेदी (1962) ने लिखा है "जान पड़ता है कि उत्तरी भारत की ऐसी लोक गाथाओं का निर्माण अधिकतर उस युग में ही हुआ होगा जब बाहर से आकर मुस्लिम जाति अपना प्रभाव क्रमशः जमाने लगी थी और यहाँ राजनीति एवं सामाजिक स्थिति में उथल पुथल थी"। स्थानीय बोलियों ने भी ऐसे ही अवसर पर अपना विकास आरम्भ किया और उनमें लोक साहित्य का निर्माण होने लगा। इसलिए हम देखते हैं कि उपलब्ध रचनाओं का वर्ण्य-विषय, अधिकतर वही है जो भारतीय इतिहास के मध्य युग की प्रवृत्तियाँ हैं। भड़ौ, पवाड़े तथा अन्य वीर-श्रृंगार युक्त गाथाएँ; जैसे-सूर्यवंशी राजा मालूशाही, जीतू, फ्यूँली, हरूहीत, इत्यादि की रचनाएँ इसी काल की होने की संभावना अधिक है। ये रचनाएँ तत्कालीन सामंतवादी मनोवृत्ति और तज्जनित भोग-विलास और प्रजा; विशेषकर नारी के शोषण को भी व्यक्त करती हैं। गीतों में व्यक्त नारी के अभाव तथा कष्टों के अतिरिक्त ढाक्की हुड़किया तथा बाद्दी जातियों का व्यावसायिक आविर्भाव भी इसी सामंती प्रथा की देन है। इन जातियों के पुरूष आर्थिक उपार्जन हेतु थोकदारों, ठाकुरों, जमींदारों सामंतों के घर जाकर गाते-बजाते नाचते थे। धीरे-धीरे उन्होंने अपनी स्त्रियों को भी इस व्यवसाय में लगाया। यह प्रथा अब तक प्रचलित रही है। इसलिए प्रेम प्रधान गीतों में कहीं-कहीं रीतिकालीन अश्लीलता के दर्शन भी होते हैं। इन स्त्रियों को नचाने की प्रथा पिछले कुछ दशकों तक दिखाई देती थी। यह जाति इसी पेशे से आजीविका अर्जित करने के कारण निम्न मानी जाती रही। लेकिन यहाँ के सामाजिक इतिहास को समेटने वाले गीतों और गाथाओं को सजीव और सुरक्षित रखने का श्रेय भी इसी जाति को जाता है। वास्तव में कुमाउंनी और गढ़वाली लोक गाथाएँ यहाँ के लोक जीवन का महाकाव्य हैं। इनके माध्यम से हमें यहाँ की विभिन्न परम्पराओं, रीति-रिवाजों, रहन-सहन, वेशभूषा, लोक विश्वास, धार्मिक जीवन आदि के साथ-साथ यहाँ के सामाजिक और राजनैतिक इतिहास की जानकारी भी मिलती है। ये लोक गाथाएँ आज कुछ जातियों के भी कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित रह गई हैं। इनको गाने-सुनने का रिवाज भी क्षीण होता जा रहा है, इसलिए लोग इन्हें भूलने लगे हैं।

वर्ण्य विषय के आधार पर यहाँ की लोक गाथाओं के मुख्य रूप से तीन प्रकार हैं–धार्मिक गाथाएँ, प्रणय प्रधान गाथाएँ एवं वीर गाथाएँ। धार्मिक गाथाओं में वीर और श्रृंगार का तथा वीर गाथाओं में धर्म तथा प्रेम का निरूपण भी मिल जाता है। धार्मिक गाथाएँ स्थानीय देवी-देवताओं से सम्बन्धित हैं। इस क्षेत्र में स्थानीय देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गायी जाने वाली उनसे सम्बन्धित गाथा जागर कहलाती है। कुछ देवताओं के लिये ख्याला या घटेली (घनेली) लगायी जाती है। जागर गाथा गाते हुवे अधिकांश तौर पर किसी व्यक्ति में गाथा के नायक देवता का अवतरण होता है। किसी भी देवता के जागर से पूर्व कुछ पौराणिक गाथाऐं अवश्य गायी जाती हैं। गढ़वाल में कुछ पौराणिक गाथाओं के ही जागर भी लगाये जाते हैं। दोनों क्षेत्रों में स्थानीय देवताओं की संख्या काफी बड़ी है, जिनमें प्रमुख गोरिया (ग्वारल, गोरिल, गोलू, ग्वैल), गंगनाथ, हरूसैम, निरंकार, छुरमल, कलविष्ट, भोलानाथ, नागरजा-नागराजा, पांडव, नरसिंह, भैरों इत्यादि हैं। गढ़वाल के प्रसिद्ध देवता नागर्जा के रूप में हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवता कृष्ण को नचाया जाता है। नागर्जा के जागर में कृष्ण जन्म तथा रूक्मिणी व चन्द्रावली हरण के प्रसंग विशेष लोकप्रिय हैं। ये प्रसंग कुमाऊँ-गढ़वाल दोनों क्षेत्रों में समान हैं। इनमें बीच-बीच में मौलिक उद्भावनाऐं भी मिलती हैं; जैसे - देवकी का गर्भ गिराने कि लिये कंस द्वारा सौ मन ताँबे की गागर तथा नौ मन सीसे की ड्यूली बनवाकर देवकी को पानी लाने भेजना; कृष्ण का गर्भ से ही बोल उठना तथा गागर को फूल के समान हल्की कर देना और गागर उतारते समय उसके पानी के साथ कंस के बह जाने जैसी उद्भावनाओं में लोक काव्य की मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। रूक्मिणी तथा चन्द्रावली हरण का घटनाक्रम भी लोकगाथाओं में मौलिक प्रसंगों को जोड़ता है। इसी प्रकार कालिय दमन, चीर हरण, पूतना-वध इत्यादि पौराणिक प्रसंगों पर आधारित गाथाऐं कुछ परिवर्तन के साथ लोकगाथा का रूप धारण करती हैं। कुछ गाथाऐं पौराणिक न होते हुवे भी पौराणिक पात्रों से सम्बद्ध हो जाती हैं; जैसे 'कुसुमा कोलिन' तथा 'सुजू की सुनारी' आदि गाथाओं में कृष्ण के परकीया प्रेम की झलक मिलती है। कृष्ण की ही भाँति पाण्डवों की नृत्यमयी पूजा की जाती है। इसमें महाभारत पर आधारित पाण्डवों के जागर गीत गाये जाते हैं, जिन्हें पण्डवार्ता कहते हैं। कुमाऊं में पाण्डवों के जागर और पूजा प्रचलित नहीं हैं, लेकिन महाभारत के प्रसंगों को अन्य देवताओं के जागर की पृष्ठभूमि के रूप में गाया जाता है। इस प्रकार से विशेषतः पाण्डव जन्म, कौरव- पांडवों का वैमन्स्य, द्रौपदी स्वयंवर, पांडव वनवास तथा

अभिमन्यु वध - इत्यादि प्रसंग सुनाये जाते हैं। द्रौपदी स्वयंवर की शर्त में भी लोककवियों की मौलिक कल्पनाएँ झाँकती हैं। कुमाउनी गाथा के अनुसार बाली कमसिण (द्रोपदी) को रथ में बिठाया गया और उसके बालों में एक कौड़ी बांध दी गई। उस कौड़ी को तीर से रथ के नीचे रखी तेल की कढ़ाई में गिराने की शर्त रखी गई। इसी प्रकार छाती के बालों से दरवाजा खोल देने अथवा सौ मन का गोला आँखों में रोक लेने, अथवा सौ मन की चासनी को बाँये हाथ से उठा लेने जैसी शर्तों में लोककवियों की कल्पनाशीलता के दर्शन होते हैं। महाभारत के युद्ध के कारणों के वर्णन में भी बड़ी रोचक कल्पनाऐं दिखायी देती हैं; जैसे राज्य सीमा के वृक्ष के मधुमक्खी के छत्ते के कारण दोनों दलों में युद्ध छिड़ना। रामायण के कुछ प्रसंग भी गाथाओं के काफी लोकप्रिय विषय हैं और उनमें भी मौलिक कल्पना सम्मिश्रित हुई है; जैसे सीता द्वारा पानी भरते समय स्वर्णमृग को देखकर उसे अपने बालों से बाँधने का प्रयत्न करना या सीता के निष्कासन में राम की बहन का हाथ होना।

गोरिल की गाथा और पूजा इस पूरे क्षेत्र में प्रचलित है, किन्तु कुमाऊं में यह अत्यधिक लोकप्रिय है। यह गाथा सत्य और न्याय के गौरव और महत्ता को उजागर करती है। निरंकार, जिसे 'ठुल देवता' भी माना जाता है, की गाथा में गरूड़ और गरूड़ी के अंडे से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रसंग कल्पना का अद्‌भुत सौन्दर्य दिखाता है। लोक देवताओं विषयक अनेक जागर गाथाएँ पूरे क्षेत्र में प्रचलित हैं।

कुमाऊं-गढ़वाल की लोक गाथाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रणय गाथा राजुला-मालूशाही की है। इसमें प्रेमाख्यान परम्परा की सभी विशेषताएँ; जैसे स्वप्न में प्रियदर्शन, मन्दिर में मिलन हेतु प्रयास, मार्ग की बाधाऐं, जोगी का रूप, पक्षी द्वारा सन्देश, चमत्कार तथा अलौकिकता आदि मिलती हैं। इस प्रकार की गाथाओं में नायक के योगी वेश धारण करने आदि की प्रवृत्तियों पर नाथ सम्प्रदाय और सूफी प्रेमाख्यान परम्परा दोनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, किन्तु इसमें उस प्रकार की समासोक्ति नहीं खोजी जा सकती। यही विशेषताएँ सुरजू कुंवर आदि प्रणय गाथाओं में भी मिलती हैं। प्रेमाख्यान परम्परा से भिन्न प्रकार की प्रणय गाथाओं में जीतू बगड़वाल, फ्यूंली रौतेली, हरू हीत आदि की गाथाऐं प्रमुख हैं। परकीया प्रेम और दुःखान्तता अन्य आदि प्रवृत्तियाँ इन्हें वास्तविक घटनाओं पर आधारित सिद्ध करती हैं। कवि कल्पना की विलक्षण प्रतिभा अद्‌भुत सौन्दर्य चित्रण में दिखायी देती है।

वीर गाथाएँ कुमाऊं में भड़ौ तथा गढ़वाल में पवाड़ा नाम से प्रचलित हैं। इन गाथाओं में हिमालय क्षेत्र के विभिन्न राजाओं तथा सरदारों और योद्धाओं के बीच हुवे युद्धों का वर्णन मिलता है साथ ही इनमें मध्य युग के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन का इतिहास भी मिलता है। इनमें वर्णित नायकों और घटनाओं के आधार पर अधिकांश वीर गाथाओं की रचना मध्यकालीन प्रतीत होती है। कुछ गाथाएँ यहाँ के ऐतिहासिक राजाओं; ज्ञान चंद, भारती चंद, रतनी चंद, अजेयपाल, मान शाह तथा प्रीतम देव आदि से सम्बन्धित हैं। इससे भिन्न जातीय वीरों की गाथाओं में व्यक्तिगत शौर्य एवं पराक्रम के अद्भुत दर्शन होते हैं। पूरे उत्तराखण्ड में इस तरह की तीस से अधिक लोकगाथाएँ मिलती हैं। रमौल गाथा भी वीर गाथाओं के अन्तर्गत आती है, लेकिन त्रिलोचन पांडे (1962) ने इसे असम्बद्ध घटनात्मक लोकमहाकाव्य कहा है। इसमें रमौल वंशी वीरों की गाथाएँ हैं। इस गाथा के अत्यन्त लोकप्रिय होने से "रमौल" नाम से एक गायन पद्धति ही चल चुकी है। इसमें कृष्ण को भी शामिल किया गया है। कथा के अनुसार कृष्ण का मन द्वारका से ऊब गया तो उन्होंने गढ़वाल के सेममुखेम नामक स्थान पर बसना चाहा। इस पर गढ़वाल के रमोलीगढ़ राज्य के राजा गंगू रमौल से कृष्ण का विरोध हो गया। कृष्ण द्वारा एक राक्षसी को मारने के पश्चात् गंगू कृष्ण का भक्त बन गया और कृष्ण वहीं रहने लगे। सेममुखेम में आज भी कृष्ण की पूजा तथा अनेक गीत गाथाएँ प्रचलित हैं। इसी गाथा में दूसरा प्रसंग गंगू के बेटे सिदुवा-विदुआ से संबंधित है। वे दोनों महा पराक्रमी और तंत्र-मंत्रों के ज्ञाता बताये गये हैं। गढ़वाल में इस गाथा को गाते हुए सिदुवा-विदुवा तथा कृष्ण् को नचाया जाता है। रमौल गढ़वाल क्षेत्र के होते हुये भी यह गाथा कुमाऊं में भी अत्यन्त लोकप्रिय है। यहाँ गंगू और सिदुवा-विदुआ के अतिरिक्त अन्य प्रसंग भी गाये जाते हैं, जो गढ़वाल में नहीं मिलते। सम्भव है कालान्तर में लोक गायकों ने अन्य छोटी-बड़ी कथाओं-घटनाओं को इसमें जोड़ दिया हो। महाभारत के समान रमौल गाथा को अनेक खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। रणू रौत, अजुवा-बफौल, कुंजीपाल आदि की गाथाऐं भी पूरे कुमाऊं गढ़वाल में समान रूप से लोकप्रिय रही हैं। इन सभी वीर गाथाओं में शौर्य एवं पराक्रम का प्रदर्शन, अन्यायी व अत्याचारियों के विरुद्ध संघर्ष करना, मल्लों को पराजित करना, संरक्षक राजाओं की सहायता करना तथा सुन्दरियों को ब्याहना आदि प्रवृत्तियाँ लगभग समान हैं। कथानक की अपेक्षा कथानक-रूढ़ियों में अधिक समानता मिलती है। कुछ

समान अभिप्राय जो प्रायः सभी गाथाओं में मिलते हैं वे इस प्रकार हैं –

1. *स्त्रियों द्वारा चुनौती देना : अनेक गाथाओं में स्त्रियाँ पुरुषों की वीरता और मातृ-* दूध को धिक्कारते हुए ताने देती हैं। जैसे ज्योत्रमाला सुरजू कुंवर से कहती है कि यदि तू सच्ची सिंहनी का पुत्र होगा तो मेरे भोटान्त आयेगा और यदि सियारिन का पुत्र होगा तो अपने भीलनी बाजार ही रहेगा। कुमाउनी रूपान्तर में रूक्मिणी सुरजू कुंवर से कहती है, 'तू ऐसा ही वीर है तो हूण देश के राजा की पुत्री हिमाली को ब्याह कर ला'।

2. *अनिष्ट का पूर्वाभास :* विपत्ति में पड़े या युद्ध में गये व्यक्ति के अनिष्ट की सूचना पत्नी या माता को अशुभ संकेतों द्वारा मिल जाती है, जैसे - सुरजू कुंवर की माता के सामने रखा हुआ दूध रक्त में परिवर्तित हो जाता है और कमल के फूल मुरझा जाते हैं। नरसिंह धौनी की मृत्यु होते ही चीटिंयों की पंक्ति टूट जाती है तथा चारों दीपक बुझ जाते हैं। जीतू बगड़वाल की गाथा में बकरी का छींकना तथा कपड़ों का मैला हो जाना अशुभ सूचक है। सिदुवा-विदुवा की गाथा में दाँई ओर सर्प का रेंगना और बांयी ओर कौवे का बोलना आदि अशुभ संकेतों के रूप में आये हैं।

3. *सतीत्व के बल पर असम्भव कार्यों का सम्भव हो जाना :* गढ़ू सुम्याल की माता अपने सत से बाँझ भैंस के थनों से दूध निकाल देती है। रणू रौत की बूढ़ी दादी के स्तनों से दूध निकल पड़ता है।

4. *सोये हुए व्यक्तियों को जगाने की विशिष्ट पद्धतियाँ :* गाथाओं में सोये हुए व्यक्ति को आवाज देकर या हिला डुलाकर नहीं जगाया जाता। फ्यूंली रौतेली की सास उसे उसके कान में सत्मुखी शंख सुनाकर जगाती है। गंगनाथ गाथा की सुनारिन अपने पति को मोरपंख से हवा करके तथा वीणा बजाकर जगाती है। सिदुवा-विदुवा गाथा में पत्नी द्वारा फूल की सुगंध से पति को जगाने का प्रसंग आता है।

5. *युद्ध में विजयी होने पर भी शत्रु पक्ष के किसी जीवित रहे व्यक्ति द्वारा छलपूर्वक मारा जाना :* कालू भंडारी की गाथा में नायक प्रतिद्वंदी के भाई लूले गंगोला द्वारा

मारा जाता है। सिदुवा-विदुवा गाथा में शत्रु को पराजित करने के बाद स्नानार्थ नदी में गये हुए बालक श्रीनाथ को छलपूर्वक मारा जाता है।

6. *दिव्य पुरुषों का आँख, कान अथवा बाँह से जन्म लेना :* गढ़वाल में प्रचलित गोरिल गाथा में बाँयी आँख से जन्म लेने, कुमाउनी गाथा के हरू के बाँई बांह से जन्म लेने, नागर्जा गाथा के कृष्ण के आँखों से जन्म लेने जैसे वर्णन मिलते हैं।

7. *प्रेमियों का योगी बनकर प्रेमिकाओं से मिलना :* मालूशाही, सुरजू कुंवर तथा कालू भंडारी आदि योगी का वेष धारण करके नायिकाओं से मिलते हैं। कभी-कभी शत्रु से बदला लेने के लिये भी योगी वेष धारण किया गया है; जैसे पुरखू पन्त ने अपने शत्रु नरचन्द से बदला लेने के लिये योगी वेष धारण किया।

इस सबके अतिरिक्त और भी अनेक कथारूढ़ियाँ प्रचलित हैं, जैसे - युद्ध में विजय के लिये किसी विचित्र घोड़े को वश में करना, राक्षस से युद्ध करना, विष देना, अकाल पड़ना, भंवरे के माध्यम से संदेश देना तथा प्रसूता की आँखों पर पट्टी बांधकर शिशु के स्थान पर सिलबट्टा, लौकी आदि रख देने जैसी अनेक रूढ़ियाँ कुमाउनी और गढ़वाली की लोक गाथाओं में व्याप्त हैं।

यहाँ की किसी भी गाथा का मूल प्रामाणिक पाठ उपलब्ध नहीं होता। समय-समय पर गायकों ने अपनी कल्पना और परिवेशजन्य अनुभवों से इनमें कुछ न कुछ परिवर्तन किया है। गाथाओं में वीरों के शौर्य, पराक्रम, नायिका के सौन्दर्य आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है। देवी- देवता, भूत-प्रेत, राक्षस, अप्सरा आदि अति मानवीय तत्वों का प्रचुर उपयोग किया गया है। ये अतिमानव कहीं नायक-नायिकाओं की सहायता करते हैं। तो कहीं उनके संकट के कारण बनते हैं। जादू-टोने और तंत्र-मंत्र द्वारा रूप परिवर्तन तथा मृत को जीवित करने के भी अनेक प्रसंग मिलते हैं।

सरलता और सहजता के साथ स्पष्टता तथा शब्दों व पदों की बारम्बार आवृत्ति भी यहाँ की लोकगाथाओं की विशेषता है। इन लोकगाथाओं में हिमालय प्रदेश के प्राकृतिक वैभव, रीति रिवाज, त्यौहार, खान-पान, वेश-भूषा तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस क्षेत्र की गाथाओं को ढोल, दमामा (दमुवा),

डौर, थाली अथवा हुड़के आदि बजाते हुए गाया जाता है। कई गाथाओं के साथ; विशेषतः धार्मिक गाथाओं के साथ नृत्य भी किया जाता है। इन्हें मौखिक रूप से जीवित रखने का श्रेय मुख्य रूप से यहाँ की शूद्र जातियों को जाता है। ये लोकगाथाएँ कुमाऊं तथा गढ़वाल के लोक जीवन और लोक संस्कृति की सर्वांगीण झांकी प्रस्तुत करती हैं।

लोक कथा

जबसे मनुष्य ने बोलना शुरू किया तभी से अपने अनुभवों को कल्पना के योग से रोचकता प्रदान कर कथा के रूप में अभिव्यक्त करना भी आरंभ किया होगा। इस अभिव्यक्ति में से जन्मी कथा लोकरंजन के साथ-साथ ज्ञान संचय का भी साधन बनी। इसीलिए कुमाऊं और गढ़वाल की लोककथाओं का इतिहास भी यहाँ के निवासियों की बोलियों के जन्म काल तक पीछे जाता है। लेकिन उनका संचयन असंभव था। वे बनतीं, मिटतीं, फिर जन्म लेतीं और विविध मोड़ लेती हुई आज तक पहुँची हैं। आज इस क्षेत्र में विविध भांति की इतनी अधिक लोक कथाएँ प्रचलित हैं कि सबको एकत्र करने पर उनकी संख्या हजारों में होगी। सर्दियों की ठंडी लम्बी रातों में आग जलाकर उसके चारों ओर बैठे लोगों के कथाएँ सुनने-सुनाने की परम्परा यहाँ प्राचीन काल से चली आई है। अधिकांश तौर पर कोई बड़ा-बूढ़ा सयाना व्यक्ति कथाएँ सुनाता है, बाकी लोग 'अँ' 'अं' करते हुए अपनी सहृदयता से कथावाचक को उत्साहित करते रहते हैं। इस क्रिया को 'हुंगुर लगाना' कहा जाताहै। कथा वाचक अपनी जानकारी की समस्त प्रकार की कथाओं के साथ-साथ अपने अनुभव, ज्ञान एवं कल्पनाओं को संजोकर नयी-पुरानी सभी प्रकार की कथाएँ सुनाता है। सिनेमा-टेलीविजन आदि के पदार्पण के बाद से यह परम्परा टूटने लगी है।

इन कथाओं में अत्यन्त वैविध्य है। फिर भी इनके वर्ण्य-विषय को समझने के लिए इन्हें निम्नानुसार वर्गीकृत करना समीचीन प्रतीत होता है –

1. पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएँ
2. अलौकिक कथाएँ
3. हास्य कथाएँ
4. व्रत कथाएँ
5. समाधान मूलक कथाएँ

6. पौराणिक कथाएँ
7. अन्य कथाएँ

पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएँ

हिमालय क्षेत्र प्राकृतिक वैभव के कारण विविध भाँति के पशु पक्षियों की भी रमण स्थली रहा है और यहाँ की कथाओं का एक बड़ा भाग भी इन्हीं से जुड़ा हुआ है। कथाओं के पात्र, सियार, भालू, बन्दर, गाय, बाघ, शेर, हाथी, बिल्ली, तीतर, कौवा, घुघुती, कफुवा तथा गौरैया आदि मनुष्य की भाषा भी बोलते हैं और आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य की सहायता भी करते हैं। मनोरंजन के साथ-साथ कई कथाएँ उपदेशात्मक भी होती हैं। जैसे दो बैलों की गहरी दोस्ती के कारण जंगल का शेर भी उनसे डरता था। सियार द्वारा उनमें फूट डाले जाने पर एक-एक करके दोनों को शेर खा गया। सियार की चतुराई की और भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, जैसे सियार द्वारा शेर/बाघ की गुफा में कब्जा करने वाली कथा। किन्तु कभी-कभी बकरी जैसे जानवरों के हाथों वह पराजित भी हो जाता है।

पशु-पक्षियों से सम्बन्धित कथाओं में पशु-पक्षी के जातीय गुणों का निरूपण तो रहता ही है, कभी-कभी अतिशयोक्ति पूर्वक उनके गुणों को घटा या बढ़ा कर परस्पर विपरीत रूप में भी दिखाया जाता है। इनमें सर्वाधिक रोचक और मौलिक उद्‌भावना युक्त वे कथाएँ हैं, जो पक्षियों की ध्वनियों के आधार पर गढ़ी गयी हैं। ये ध्वनियाँ मनुष्यों की किसी उक्ति के समान सुनाई देती हैं। सम्बद्ध पक्षी पूर्व जन्म में मनुष्य होता है। किसी उत्पीडन वश अकाल मृत्यु को प्राप्त होने के बाद पक्षी के रूप में जन्म लेकर वही बात दोहराता है, जो मृत्यु के समय बोल रहा था। गढ़वाल तथा कुमाऊँ की सुप्रसिद्ध 'काफलपाको' कहानी का नायक एक छोटा लड़का है। सौतेली माँ द्वारा काफल (एक स्वादिष्ट जंगली फल) खाने के झूठे आरोप में मार दिया जाता है। लड़का कहता रहता है – 'काफल पके थे, पर मैंने नहीं खाये (काफल पाक्को मील नि चाक्खो) उसके मरने के बाद वस्तुस्थिति का पता चलने पर पश्चातापवश माँ भी यह कहती हुई मर जाती है कि बेटा, काफल तो पूरे हैं (पुरै पोथी पुरै पुर)। वनों में काफल पकने के दिनों में ये दोनों पक्षी बोलते हैं और इनकी ध्वनि इन उक्तियों की ही प्रतिध्वनि प्रतीत होती है। इस प्रकार की कथाओं में 'मैं भुको मैं सिती', 'तीन र्‌वटों की फिकिरी',

'जूँ हो', 'भोव भोव', 'तीसमोली तीसतीस', 'होठ होठ', 'तुम को छा', 'उठ किर्ती देसुर्ती', 'द्यो कका पाणि पाणि', 'सरगदिदा पाणि पाणि', 'हैडल छोडल', 'हे दौंधी दी', 'तीन तोली छलकनी', 'म्यारू तारा', 'भटकुटरू भटकुटरू', 'हे ब्वे क्यतकलु' आदि अनेक कथाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में सुनाई देती हैं। ये कथाएँ यहाँ के मानवीय व्यवहार, मानसिकता और सम्बन्धों का चित्रण करती हैं। पक्षी द्वारा पूर्वजन्म के असंतोष को व्यक्त करना यहाँ एक लोकप्रिय कथानक रूढ़ि बन चुकी है।

अलौकिक कथाएँ

इस समग्र पहाड़ी क्षेत्र में भूत-प्रेत, जादू टोने आदि पर काफी विश्वास किया जाता है। अतः यहाँ भूत, राक्षस, परियों आदि से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ये पात्र मनुष्यों को सताते भी हैं और सहायक भी होते हैं। जनमानस में यह विश्वास व्याप्त है कि असंतुष्ट मृत आत्माएँ भूत बनकर सूक्ष्म रूप में श्मशान में घूमती हैं जिसे ये भूत पकड़ते हैं उसका पीछा गाँव की सीमा तक करते हैं। ये ही विश्वास भूतों की कहानी के विषय भी होते हैं। दैत्यों सम्बन्धी कथाओं में किसी राजकुमारी को पाने के लिए दैत्य के साथ संघर्ष और दैत्य के प्राणों का पिंजरे में बन्द तोते के अन्दर होने की कथानक रूढ़ि अन्यत्र की भाँति यहाँ भी प्रचलित है। प्रत्येक क्षेत्र में राक्षस, भूत-प्रेत तथा परियों की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

हास्य कथाएँ

यहाँ की हास्य कथाओं के अभिप्राय प्रायः मूर्ख तथा गप्पी मनुष्य हैं। इनसे सम्बद्ध अनेक कथाओं में भी 'लछिया कोठ्यारी' के लड़कों और 'टोखण्या छोरा' की कथाएँ सर्वाधिक सुनने को मिलती हैं।

व्रत कथाएँ

व्रत कथाएँ व्रत के महात्म्य का वर्णन करती हैं और प्रायः स्त्रियों में कही-सुनी जाती हैं। अधिकांश व्रतों से कोई न कोई कथा जुड़ी होती है। यहाँ की प्रमुख कथाओं में वट सावित्री व्रत कथा, संकष्ट चतुर्थी व्रत कथा, दूर्वाष्टमी व्रत कथा, अनन्त चतुर्दशी

व्रत कथा, बिण भाट की कथा, साही (सौल) की दूर्वाष्टमी व्रत कथा आदि है। ये कथाएँ कहीं ब्राह्मण सुनाते हैं और कहीं सयानी स्त्रियाँ। अब इनकी पुस्तकें भी मिलने लगी हैं।

समाधान मूलक कथाएँ

समस्या मूलक कथाएँ समस्याओं का समाधान बताने के साथ-साथ शिक्षा भी देती हैं। इनके अभिप्राय पंचतंत्र की कहानियों की भांति सर्वव्यापक होते हैं; जैसे एक कौड़ी की चार बात, चार हजार में चार बात मोल लेना आदि।

पौराणिक कथाएँ

कुमाऊँ गढ़वाल की पौराणिक वृतान्तों पर आधारित कथाओं में अनेक उद्भावनाएँ स्थानीय वातावरण और संस्कृति के सम्मिश्रण से विशेष रोचकता प्रदान करती हैं; जैसे देवकी-यशोदा दो बहनें थीं। नदी में पानी भरने जाने पर दोनों की भेंट होती है। देवकी का उतरा मुँह देखकर यशोदा उसकी चिन्ता का कारण पूछती है तब वह कंस द्वारा अपने पुत्रों की हत्या की बात करती है और दोनों अपनी सन्तानें बदलने की योजना बनाती हैं। पौराणिक कथाओं में सर्वाधिक कथाएँ शिव पार्वती से सम्बद्ध हैं, फिर राम सीता, हनुमान, कृष्ण गोपी, कौरव पांडव आदि से। इनके अतिरिक्त 'तिरिया चरित्र' अनेक पत्नियाँ होने पर भी सन्तान न होना, सन्तानार्थ प्रयत्न, सापत्न्य दाह, सौतेले बच्चे को सताने, धन के लालच, स्त्री के मन में बात न टिकने आदि अभिप्रायों पर भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

इस पूरे पहाड़ी प्रदेश में व्याप्त इन लोक कथाओं की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। लोक विश्वासों पर आधारित, सहज सरल सरस शैली में कहीं गई ये कथाएँ अद्भुत चमत्कार दिखाने के साथ-साथ सामान्य जीवन के व्यवहार का ज्ञान भी कराती हैं और हँसाती रूलाती भी हैं। प्रायः लोक कथाओं में से अधिकांश सुखान्त होती हैं, किन्तु कुमाऊं-गढ़वाल में दुखान्त कथाओं की भी कमी नहीं है। पक्षियों की विशिष्ट ध्वनियों पर आधारित सभी कहानियाँ दुखान्त हैं। चमत्कार, अतिशयोक्ति और अतिमानवीय तत्वों की प्रचुरता होते हुए भी लोक कथाएँ यहाँ के जन जीवन की वास्तविक झाँकी

प्रस्तुत करती हैं। इनमें यहाँ के मनुष्यों की स्वभावगत विशेषताओं और जीवन की विविध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का यथार्थ निरूपण मिलता है। ये कथाएँ स्थानीय मनुष्यों की प्रकृति के साथ की निकटता, कोमल संवेदना, और सूक्ष्म बुद्धि के साथ-साथ सीधे और भोले स्वभाव को भी व्यक्त करती हैं।

लोक नृत्य एवं लोक नाट्य

संस्कृत भाषा के नृत्त शब्द के दो रूप हैं : नृत्य और नाट्य। दोनों की अभिव्यक्ति शैली की समानता 'लोकनृत्य' शब्द में अधिक स्पष्ट होती है, इसीलिए कुमाऊं-गढ़वाल के नृत्यों में नाट्यात्मकता एवं नाटकों में नृत्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

लोक नृत्य

पर्वतीय लोक जीवन में नृत्यों की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से ही रही है। इसके प्रमाण यहाँ के गुफाचित्र हैं; जिनमें परस्पर हाथ पकड़े हुए पंक्तिबद्ध या वृत्त बनाकर नाचते मनुष्यों को चित्रित किया गया है। जनजातीय जीवन में नृत्यों का स्थान आज भी इतना महत्वपूर्ण है कि प्रायः पूरे वर्ष नृत्यों का कोई न कोई आयोजन होता रहता है। कोई भी पर्व या उत्सव नृत्यों के बिना सम्पन्न नहीं होता। रोज-रोज के परिश्रम, थकान और तनाव इत्यादि से मुक्त होकर उन्मुक्त आनन्द प्राप्त करने के सर्वोत्तम माध्यम नृत्य ही हैं। इनमें संगीत, अभिनय, खेल, व्यायाम एवं काव्य तत्व इत्यादि सभी माध्यमों से भावाभिव्यक्ति और आनन्दानुभूति होती है। प्रारम्भ में कंठ से विविध प्रकार की ध्वनियाँ निकालकर तथा लकड़ी, बर्तन, पत्थर जैसे उपलब्ध साधनों को बजाकर नृत्य किये जाते रहे होंगे। कालान्तर में क्रमशः बर्तन बजाकर तथा अन्य विकसित हो रहे लोक वाद्यों को बजाकर ये नृत्य किये जाने लगे। भाषा के विकास के साथ धीरे-धीरे इनके साथ गीत भी बनते गये और वाद्यों का भी परिष्कार होता गया। कुमाऊँ तथा गढ़वाल में थाली बजाकर गाने-नाचने की प्रथा अभी भी पायी जाती है। यहाँ के अधिकांश नृत्य सामूहिक हैं और प्रायः गीतों के साथ किये जाते हैं। इसलिए लोक गीतों का एक बड़ा भाग नृत्य गीतों के रूप में ही जाना जाता है। नृत्यों और नृत्य गीतों के कई प्रकार हैं। प्रमुख प्रचलित नृत्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. ***झोड़ा या चांचरी*** - कुमाऊं में प्रचलित इस सामूहिक नृत्य को कहीं झोड़ा और कहीं चांचरी तथा कहीं खेल लगाना भी कहा जाता है। इसमें स्त्री पुरुष दोनों भाग लेते हैं। नर्तक एक दूसरे के कन्धों या कमर पर हाथ रखकर दो कदम आगे फिर एक कदम पीछे रखते हुवे गोलाई में घूमते हैं। इसके साथ गाये जाने वाले गीतों को भी झोड़ा या चाँचरी ही कहा जाता है। झोड़ों की अनेक शैलियाँ हैं। कभी एक व्यक्ति वृत्त के बीच में हुड़के के साथ गीत गाता है फिर वृत्त में घूमते नर्तक उसकी गाई हुई पंक्तियाँ दोहराते हैं। और कभी वृत्त में ही दो भाग बनते हैं और बारी-बारी से गीत गाने के साथ-साथ झुककर या खड़े होकर नृत्य करते हैं। बीच-बीच में तालियाँ बजाना, उल्टा घूमना, एक वृत्त के ऊपर दूसरा और तीसरा वृत्त बनाना, इसी प्रकार अन्दर बाहर एकाधिक वृत्त बनाकर घूमना आदि इसकी विभिन्न शैलियां हैं। ऊपर के वृत्त बनाने में नर्तक नीचे के वृत्त वालों के कंधों पर पैर रखकर परस्पर हाथ बांधकर खड़े रहते हैं। विषय की दृष्टि से झोड़ों के गीतों में काफी वैविध्य है। प्रेम, सौन्दर्य, धर्म, राजनीति, रीति रिवाज तथा किसी भी सामाजिक विषय पर झोड़े गाये जाते हैं। पर्व, उत्सव, विवाह, 'जन्मोत्सव तथा मेलों में झोड़ों के सुन्दर दृश्य दिखायी देते हैं।

2. ***छपेली*** - यह दो प्रेमियों का नृत्य है। इसमें गायक समूह गीत गाता है। नर्तक और नर्तकी गीत के भावों के अनुसार भाव भंगिमा और मुद्राओं के साथ मुक्त रूप से नाचते हैं। इसमें एक टेक होती है जो द्रुत गति में पाई जाती है। अन्तरा में दोहे/जोड़ मिलाये जाते हैं। आजकल नर्तकी के रूप में स्त्री वेशधारी पुरुष ही नाचता है। द्रुत गतिमय यह नृत्य श्रृंगार प्रधान है, लेकिन कभी-कभी सामयिक विषयों के गीत भी इस नृत्य के साथ गाये जाते हैं :

   काकड़ी को केरा झगुली (घाघरी) को घेरा
   तू सुवा आपणि नि छै कलेजि दि बेरा
   कलेजि दि बेरा मदना सार लगोंछे दिन
   घंट भरी को काम मदना सार लंगोंछे दिन

3. ***थड्या*** - थड़-थाड़ अर्थात् आंगन में सम्पादित होने के कारण गढ़वाल में प्रचलित इस सामूहिक नृत्य को थड्या कहा जाता है। वसन्त पंचमी से विषुवत

संक्रान्ति तक गढ़वाल के प्रत्येक गाँव में थड्या नृत्यों के आयोजन होते हैं। इस नृत्य में केवल स्त्रियाँ भाग लेती हैं, लेकिन मेले इत्यादि मेंपुरुष भी यह नृत्य करते हैं। इस मंडलाकार नृत्य में दो दल अलग-अलग अर्धमंडल बनाकर मंडलाकार घूमते हैं। नर्तक या नर्तकियाँ एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखकर झोड़े की भांति दो कदम आगे एक कदम पीछे रखते हुए घूमते हैं। साथ ही गीत भी गाते हैं। इसमें प्रायः वाद्य नहीं बजाये जाते। इसके गीतों में विषय की दृष्टि से काफी वैविध्य है। धर्म भावना, पराक्रम, सौन्दर्य एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों या सामायिक व्यक्तियों अथवा विषयों पर भी थड्या गीत रचे जाते हैं। सुरजू कुंवर, ज्योत्र माला, पाण्डव पुत्र गोविन्द तथा विषल्या आदि ऐतिहासिक-पौराणिक व्यक्तियों के प्रसंगों के साथ गजे सिंह जैसे शूर वीरों के प्रसंग भी थड्या गीतों के विषय बने हैं –

रणिहाटा नी जाणे गजेसिंह
हल जोता का दिन गजेसिंह
तिल दारू नि पीण गजेसिंह
रहिहाटा नि जाण गजेसिंह

इस गीत में गजेसिंह की माँ उसे शत्रु से बदला लेने रणिहाट की ओर जाने से रोकती है।

थड्या गीत और नृत्य गढ़वाली संस्कृति के अन्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं। पूरे गढ़वाल क्षेत्र में छाये हुए थड्या मनोरंजन के साथ-साथ धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इसमें आसाम के बिहू नृत्य, कश्मीर के रौफ नृत्य और हिमांचल के लावली बगावली नृत्य शैलियों की झलक भी दिखाई देती है। (नौटियाल, 1990)।

4. ***चौंफुला*** - थड्या की भांति चौंफुला भी गढ़वाल का अति लोकप्रिय व लालित्यपूर्ण सामूहिक नृत्य है। थड्या नृत्य के पश्चात् चौंफुला नृत्य करने की परम्परा बन चुकी है। यह विशेषतः वसन्त ऋतु में किया जाता है। चौंफुला का अर्थ ही चारों ओर खिले हुऐ फूल होता है। वसन्त ऋतु के पुष्पमय परिवेश के साथ मेल बिठाती स्त्रियाँ रंग बिरंगे वस्त्र और आभूषण पहनकर इस नृत्य

को करती हैं। चौंफुला नृत्य की अनेक शैलियाँ हैं। इसमें मुख्य रूप से नर्तक अथवा नर्तकियाँ ताली बजाते हुए अपने आगे पीछे के साथियों के साथ हाथ मिलाते हुए द्रुत गति से गोलाई में आगे बढ़ते हैं। नर्तकों का सम संख्या में होना अनिवार्य है, क्योंकि हाथ मिलाने में जोड़ियाँ बनती हैं। "चौंफुला नृत्य में गुजरात के गरबा-गरबी, नृत्यों का निर्वाह भी हुआ है" (नौटियाल, 1990)। चौंफुला नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों में प्रणय भाव के साथ-साथ सामयिक विषयों की अभिव्यक्ति भी मिलती है, जैसे स्वतंत्रता के समय गांधी जी पर बने हुए गीत में गांधी जी के देश प्रेम, खादी पहनने, बकरी का दूध पीने तथा अंग्रेजों को भगाने का वर्णन है :

मातमा गांधी बड़ो भागी छ
देश मुलक को अनुरागी छ
बाखरि को दूध वो खान्दु छ
खादी को लाणू वो लोंदु छ
पन्द्र अगस्त हमू दिलैगी वो
अग्रेजों सणि भगैगी वो

5. ***छोपती*** - कुमाऊँ के झोड़े और गढ़वाल के थड्या की भाँति खवाँई जौनपुर क्षेत्र में 'छोपती' नृत्य एवं गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ये अनेक उत्सवों, मेलों के अवसरों पर किये जाते हैं, विशेषतः माघ मास में सभी जगह इनके आयोजन होते हैं। इसमें स्त्रियों और पुरुषों के दो अलग-अलग दल अर्ध मंडलाकर बनाकर दो या तीन कदम आगे तथा एक कदम पीछे रखते हुए वृत्ताकार घूमते हैं। नर्तकों के हाथ अपने आगे पीछे वाले साथियों की कमर को बाँधे रहते हैं तथा सभी का एक पैर आगे व एक पैर पीछे रहते हुए एक साथ उठता-रूकता है। पैरों की यह लय बद्धता एवं कमर में बँधे हाथों की श्रृंखला अति मनोहर दिखाई देती है।

छोपती नृत्य के गीत संवाद प्रधान होते हैं। नर्तक-नर्तकियों के दलों के बीच उत्तर-प्रत्युत्तरों के साथ गीत आगे बढ़ता है। एक टेक दोहराते हुए उसके साथ मुक्तक समान 'पट्टे' जोड़े जाते हैं। वार्तालाप के विषय तथा इच्छानुसार पट्टे याद करके या उसी समय बनाकर भी गाये जाते हैं। इच्छानुसार पट्टों

की संख्या के आधार पर गीत को घटाया अथवा बढ़ाया भी जा सकता है। छोपती गीतों का प्रधान विषय संयोग श्रृंगार होता है। यथा –

बाखुरी दनकी, मेरी भग्यानी बौ,
भरपूर्या ज्वानी, मेरी भग्यानी बौ
नी होणी मनकी, मेरी भग्यानी बौ

(बकरी उछल-कूद मचाती है। भरपूर जवानी है लेकिन मन की इच्छा पूरी नहीं होती)। इसमें 'मेरी भग्यानी बौ' की टेक ली गई है। उसके साथ तीन-तीन पंक्तियों के 'पट्टे' मिलाये जाते हैं। हर 'पट्टे' का विषय अलग-अलग भी होता है। अलग-अलग गीतों की टेक अलग-अलग होती है।

6. ***छोलिया*** - छोलिया युद्ध नृत्य के अन्तर्गत आता है। इसके साथ गीत नहीं गाये जाते। ढोल, दमामा, नगारा, तुरही, बीन इत्यादि लोक वाद्यों के साथ युद्ध का आंगिक अभिनय करते हुए नर्तक अपनी भाव भंगिमाओं द्वारा एक-दूसरे से उत्तर-प्रत्युत्तर करते हैं। चूड़ीदार पाजामा, अचकन, कमर से नीचे को लटकती हुई रंगीन पट्टियाँ, गले में रूमाल, एक हाथ में लोहे की तलवार और दूसरे हाथ में ढाल लेकर दो या चार पुरूष नर्तक यह नृत्य करते हैं। बारात में, मेलों और उत्सवों में यह नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में दोनों प्रतिद्वंद्वी परस्पर को चिढ़ाते, ललकारते, भय, विस्मय, हर्ष इत्यादि भावों तथा अपने शौर्य का प्रदर्शन करते तलवार और ढाल घुमाते हुए नाचते हैं। यह पुरूषों द्वारा ही किया जाता है। यह नृत्य स्पष्ट तौर पर सामंतीय प्रथा का सूचन करता है।

7. ***लांग या हुड़का-हुड़क्यानी का नृत्य*** - कुमाऊं-गढ़वाल में बाद्दी या हुड़क्या जाति व्यावसायिक रूप से गाने-नाचने का कार्य करती रही है। इस जाति के स्त्री-पुरूष शादी-ब्याह, त्यौहारों और वसंत ऋतु में लोगों के घरों में जाकर नाचते गाते हैं। बाद्दी ढोल बजाकर गीत गाता है और बाद्दी स्त्रियाँ गोल घेरे में घूमकर नाचती हैं। इसी में कभी-कभी लांग नृत्य भी किया जाता है, जिसमें नौ गाँठो वाले बाँस के डंडे को जमीन में गाड़कर ऊपर के सिरे पर रस्सी या कपड़े की गाँठ के साथ वाद्दी अपनी नाभि टेककर पेट के बल

घूमता है और "भोले-भोले" कहता हुआ शिव पार्वती के नाम का चक्कर लगता है। फिर क्षेत्रपाल, पंचदेवता, भूमिपाल आदि के नामों के चक्कर भी लगाता है। गढ़वाल में धार्मिक सामाजिक दृष्टि से इस नृत्य का अत्यंत महत्व है। कभी-कभी इसमें शिव-पार्वती का नृत्य भी किया जाता है। वादी ढोलक बजाता हुआ शिव का अभिनय करता है और उसकी पत्नी पार्वती का अभिनयात्मक नृत्य प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार सांपू नृत्य में नाग और नागिन के रूप लेकर नृत्य किया जाता है। इस नृत्य के साथ अर्जुन और नागकन्या वासुदत्ता की प्रेमगाथा गायी जाती है।

8. ***सुई और थाली नृत्य*** - ये नृत्य पेशेवर नर्तक जातियों द्वारा ही किये जाते हैं। इनमें अंग नियंत्रण और अंग संचालन का सुन्दर प्रदर्शन होता है। सुई नृत्य में नर्तकी नाचते हुए महफिल के बीच में ऊँची मेज पर रखी हुई सुई को पीठ के बल झुककर अपने दातों या होठों से उठाती है। मिरासिन या बादिन इस नृत्य को शृंगार प्रधान गीतों के साथ आकर्षक हाव-भाव और मुद्राओं सहित करती है। थाली नृत्य में नर्तकियाँ हथेली पर थाली घुमाती हैं। नृत्य के साथ मधुर गायन और वादन भी होता है, लेकिन ताल का विशेष महत्व रहता है। ये दोनों नृत्य गढ़वाल में विशेष लोकप्रिय हैं।

9. ***ढोल नृत्य*** - अचकन, चूड़ीदार पाजामा, पगड़ी आदि पहनकर तथा घुंघरू बांधकर गले में ढोल लटकाकर ढोली ढोल बजाता हुआ नृत्य करता है। विविध प्रकार के ताल बजाता तदनुरूप द्रुत या विलम्बित लय के साथ घूमता, उठता-बैठता ढोली अपना कला प्रदर्शन करता है। उसके साथी दमामा बजाकर उसका निर्देशन करते हैं। यह नृत्य होली, बारात और मेलों में प्रदर्शित किया जाता है।

10. ***होली नृत्य*** - फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी से पूर्णमासी तक सामूहिक रूप से होली नृत्य किया जाता है। ढोल, दमामा के साथ होली के गीत गाते हुए नर्तक विशिष्ट पद व हस्त-संचालन के साथ गाँव के प्रत्येक घर के आगे और मन्दिर-प्रांगण में यह नृत्य करते हैं।

11. ***जागर नृत्य*** - कुमाऊँ-गढ़वाल में क्षेत्रीय देवी-देवताओं की गाथाओं को जागर कहा जाता है। कभी-कभी इसमें पौराणिक देवता शामिल होते हैं। इन गाथाओं को गाते समय अधिकांश तौर पर किसी-किसी व्यक्ति पर जागर के देवता का आविर्भाव होता है और उसके (डंगरिया के) शरीर में कम्पन्न होने लगता है। फिर वह उठकर या बैठे-बैठे नाचता है। वह अर्धचेतन अवस्था में देवता के समान हाव-भाव करता, हंसता-रोता, चमत्कारिक क्रियाओं का अभिनय करता है, जैसे आग के अंगारे पकड़कर मुँह में डालना। उसके बाद उपस्थित श्रोता उसे फूल-अक्षत चढ़ाकर नमन करते हैं। ढोल, दमामा, हुड़का, थाली आदि बजाते हुए गायक (जगरिया) अपने गायन के आरोह-अवरोह के साथ देवता (नर्तक) को नचाता है। इसे देवता नाचना कहते हैं। इसमें ऐतिहासिक वीर पुरूष, न्यायप्रिय और प्रजापालक राजा अथवा अपूर्ण आकांक्षा के साथ मृत्यु को प्राप्त होकर लोक में पूजे जाने वाले स्त्री या पुरूषों की आत्मा का अवतार होता है और तदनरूप हाव-भाव और नर्तन होता है। आंछरी-चांचरी (परी) के अवतार परियों का जैसा नृत्य करते हैं।

अन्य नृत्य - इन नृत्यों के अतिरिक्त धोंशेला, धिरपातइ, तोंदी, मयूर नृत्य, झुमैला, घस्यारी नृत्य, भैला नृत्य, बौछड़ा नृत्य, दूड़ा नृत्य, बाजूबन्द नृत्य, छूड़े, बंजारा नृत्य, दीपक नृत्य, डंड्याला नृत्य, रणबांकुरी नृत्य, पौणा नृत्य, हुमड़ी-हुमा नृत्य, ढूरिंग नृत्य, ठुमकिया नृत्य, पाण्डव नृत्य, आदि अनेक नृत्य इस क्षेत्र में किये जाते हैं जो कि जन जातियों में सर्वाधिक मिलते हैं। पौणा और हुमणि-हुमा विशेष रूप से भोटियों में किये जाते हैं। ढूरिंग नृत्य में तिब्बती संस्कृति की झलक दिखायी देती है तथा बौछड़ा में भांगड़े की झलक मिलती है। पाण्डव नृत्य में पांडवों के विभिन्न क्रिया-कलापों का अभिनय होता है। इनमें से कई नृत्य अब कम दिखायी देते हैं। आजकल सिनेमा के गीतों में नाचना तथा सिनेमा के अभिनेता-अभिनेत्रियों का अनुकरण करते हुए उसी भाँति नाचने का प्रचलनन बढ़ता जा रहा है। सीमान्त की जनजातियों की नई पीढ़ी भी सिनेमा से प्रभावित होकर अपने पारम्परिक नृत्यों की उपेक्षा करने लगी है।

लोकनाट्य

लोकनाट्य सामान्य जनता के बीच से उद्भवित होते हैं। इसे अनुकरण से मनोरंजन करने की मूल प्रवृत्ति ने जन्म दिया है। प्रारम्भ में किसी विशेष पात्र द्वारा विशेष स्थिति में प्रकट की गयी विशेष भाव-भंगिमाओं का अनुकरण ही काल क्रमेण अपने में अधिक पात्रों व प्रसंगों को समेटता गया। फिर उसमें कथानक जुड़ा, तदन्तर मुख से निकलने वाली विशिष्ट ध्वनियाँ, संवाद, गीत आदि। इन सबके मिले-जुले रूप के विकसित होने से लोकनाट्य की एक व्यवस्थित शैली बन गयी। राज्याश्रय के बिना भी यह परम्परा दिन प्रतिदिन फलती-फूलती गयी, क्योंकि इसमें जन मानस पूर्ण तादात्म्य के साथ सहयोग करता रहा। वीरपूजा की भावना ने वीरों के चरित्रों को नाच-गाकर साभिनय प्रस्तुत करना आरंभ किया। इससे धीरे-धीरे लोकनाट्य की परम्परा विकसित होने लगी।

उत्तराखंड में प्राचीन काल से ही अनुकरणात्मक नाट्याभिनय प्रारम्भ होने की पूर्ण सम्भावना है। गुफा चित्र, मूर्तियों की मुद्रायें आदि इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। यहाँ के नृत्य भी नाट्य तत्वों से युक्त हैं। जागर नृत्य, पाण्डव नृत्य, नागर्जा, पवांड़े, छोलिया आदि नृत्य अभिनय प्रधान हैं। ऊपरोक्त नृत्य इस तथ्य का भी संकेत करते हैं कि लोक में नाट्य स्वरूप भी काफी पहले से जीवित था, परन्तु किसी शैली विशेष की परम्परा न टिक पाने के कारण तथा पूर्व काल में कथानक विहीन अभिनय के कारण वे नाट्य स्वरूप आज के युग तक नहीं पहुँच पाये, फिर भी शिव और उसके गणों से सम्बद्ध हिलजात्रा और महाभारत के प्रसंगों से जुड़े पाण्डव नृत्य इस पर्वत प्रदेश की प्राचीनतम नाट्य परम्परा के आज तक के सजीव उदाहरण हैं। विशुद्ध लोकनाट्य के अन्तर्गत रामलीला, स्वांग और हिलजात्रा को रखा जा सकता है।

पांडव नृत्य

गढ़वाल में पांडवों की कथा को गाकर नृत्य करने की प्रथा है। ढोल दमामा के साथ पांडव-गाथा गाते हुए विभिन्न शैलियों में जो नृत्य किये जाते हैं उन्हें भावानुरूप अभिनय के कारण नृत्य नाट्य की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। इस धार्मिक नृत्य नाट्य का आयोजन सामूहिक रूप से किया जाता है। सभी पांडव एक ही स्थान पर

नाचते हैं। बाबुलकर और नौटियाल ने इस नृत्य को पात्रों के क्रमानुसार वर्गीकृत करते हुए क्रमशः अर्जुनबाजानृत्य, भीमबाजानृत्य, नकुल बाजानृत्य, सहदेव बाजानृत्य, युधिष्ठिर बाजानृत्य, द्रोपदी बाजानृत्य और कुन्ती बाजानृत्य कहा है (नौटियाल 1990)। पांडव वार्ता के नृत्य में अर्जुन-वासुदत्ता और गैंडे की कथा विशेष लोकप्रिय है। गैंडे की कथा के वर्णन में प्रायः एक कद्दू पर लकड़ी की टाँगें लगाकर गैंडा बनाया जाता है और उसे मंच पर स्थापित करके पाँचों पांडव उसके चारों ओर आखेट का अभिनय करते हुए नाचते हैं। नागर्जा आदि जागर नृत्य भी अभिनय प्रधान हैं। नागर्जा में नागर्जा अर्थात् कृष्ण का अभिनय किया जाता है।

रामलीला

उत्तरी भारत में मध्यकाल में वैष्णव भक्ति परम्परा के विस्तार के बाद पौराणिक कथाओं पर आधारित रामलीला और रास लीला का जन्म हुआ और ये अत्यन्त लोकप्रिय बने। इनके लोकप्रिय नायकों के चरित्रों को संगीत के साथ साभिनय प्रस्तुत किया जाने लगा। इसमें वीर पूजा की भावना भी निहित थी। इसके पूर्व ब्राह्मण काल में समग्र देश में संस्कृत नाटक होते थे, लेकिन उत्तराखण्ड में उनकी क्या स्थिति थी यह स्पष्ट नहीं होता है। रामलीला और रासलीला का पदार्पण यहाँ उत्तर मध्यकाल में हुआ। इनमें से भी रामलीला विशेष लोकप्रिय हुई आधुनिक काल के प्रारंभ से उसकी परम्परा अखंडित रूप से आज तक चल रही है।

रामचरितमानस के कथानक पर आधारित रामलीला के सभी चरित्र दर्शकों के मन के साथ जुड़े रहते हैं। इनका अभिनय पूर्ण निष्ठा के साथ किया जाता है। रामचरितमानस की अवधी भाषा सबकी समझ में आ जाती है। इसके साथ-साथ कुछ पद अलग से बनाकर भी रामलीला में प्रयुक्त किये जाते हैं। इसमें दोहा, चौपाई प्रमुख हैं। गद्य संवाद बहुत कम होते हैं। गये पद विभिन्न राग रागनियों में स्वरबद्ध और तालबद्ध ढंग से बहुत अच्छी तरह गाये जाते हैं। इनके गायन में मुख्य रूप से मालकौंस, खमाज, विहाग, पीलू, जै-जैवन्ती, भैरवी तथा देश आदि रागों का आधार लिया जाता है। इनके संगीतकार संगीत शास्त्र के ज्ञाता प्रतीत होते हैं। भाव और प्रसंगानुसार अत्यन्त सतर्कता पूर्वक रागों का प्रयोग किया गया है। आज के कलाकार भी शास्त्रीय संगीत में प्रवीण न होते हुवे भी उनका उसी भाँति गायन करते हैं। इसके अभिनेता प्रत्येक पात्र–राम,

रावण, दशरथ, सीता, सुमन्त आदि का अभिनय पूर्ण मनोयोग के साथ करते हैं। प्रारम्भ में इन अभिनेताओं को 2-3 माह पूर्व से ताल़ीम दी जाती थी और इनके लिए प्याज, लहसुन, मांस तथा मादक पदार्थों का सेवन निषिद्ध था। ये अत्यन्त सात्विक ढंग से रहते थे। 1880 के दशक में जन्मे केशव दत्त फुलोरिया ने बताया है कि उन दिनों 'यह माना जाता था कि राम का अभिनय करने वाला वास्तव में दशरथ नन्दन लीलामय राम ही है' (गुरूरानी, 1980)। वर्तमान समय तक स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरूष ही करते आये हैं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में इसमें परिवर्तन आयेगा, जैसे कि 1992 में लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा की रामलीला में सीता का अभिनय एक बालिका ने किया।

कुमाउनी शैली की रामलीला सर्वप्रथम बरेली या मुरादाबाद में 1830 में आयोजित की गई थी। उसी आधार पर 1860 में बद्रेश्वर अल्मोड़ा में 1880 में नैनीताल में, 1890 में बागेश्वर में, 1902 में पिथौरागढ़ में, प्रथम रामलीलाएँ हुईं। 1941 में विश्वविख्यात कलाकार पं. उदयशंकर ने पातालदेवी अल्मोड़ा में छायाचित्रों के माध्यम से रामलीला का प्रदर्शन किया (जोशी, 1980)। उन दिनों बिजली और ध्वनि विस्तारक नहीं होते थे, खुले मैदान में 5-6 हजार दर्शकों तक अभिनेता अपनी आवाज पहुँचाता था। इनके अभिनेता पेशेवर कलाकार नहीं होते थे। रंगमंच के पार्श्व से एक व्यक्ति अभिनेताओं को उनके संवाद बताया करता था। कभी-कभी वह पुस्तक हाथ में लिये मंच पर ही पात्र के पीछे चलकर गीत तथा संवाद की पंक्तियाँ बताया करता था (पांडे, 1984)। अभी भी दूर दराज के अनेक गाँवों में ध्वनि विस्तारकों तथा विद्युत व्यवस्था के बिना रामलीला सम्पन्न होती दिखाई देती है।

कुमाउनी रामलीला पर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों व नौटंकी का भी प्रभाव रहा है। यहां के आयोजनों में मुसलमानों का भी पूर्ण सहयोग रहता आया है। अल्मोड़ा के सन्दर्भ में केशवदत्त पाण्डे लिखते हैं कि 'बद्रेश्वर का मन्दिर सार्वजनिक रामलीला का एकमात्र केन्द्र था। मोहम्मद साहब तथा मलूल साहब के हाथ में रोशनी का सारा प्रबन्ध रहता था। सभी लोग धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर मूक मूर्तिवत बैठे रहते थे। लड़ाई-झगड़े की कभी नौबत नहीं आती थी, क्योंकि उस समय न तो झगड़े की माँ मदिरा वहाँ थी और न सौतेली माँ सुरा ही' (पाण्डे, 1980)। यह स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की बात है, क्योंकि बद्रेश्वर में रामलीला सन् 1948 तक ही खेली गई। वैसे

नवरात्रियों में रामलीला के उपरान्त विजयादशमी को जलाये जाने वाले रावण तथा अन्य राक्षसों के पुतलों के निर्माण में आज भी मुसलमान कलाकारों का विशेष योगदान रहता है।

गढ़वाल में भी इसी शैली की रामलीला प्रचलित है। आजकल मुन्श्यारी के क्षेत्र में कुमाउनी लोकगीतों की धुनों पर आधारित कुमाउनी रामलीला होती है तथा गढ़वाल के अनेक स्थानों पर गढ़वाली भाषा में रामलीला होती है। इसका श्रेय श्री बृजेन्द्र शाह को जाता है। पचास के दशक में उन्होंने पूरे क्षेत्र में घूमकर लोकगीतों और लोकधुनों का संकलन करके लोकभाषा में रामलीला तैयार की। उन्हीं के शब्दों में कहें तो– "इस प्रकार रामचरितमानस के आधार पर तथा हमारे यहाँ प्रचलित रामलीला के गीतों के आधार पर मैंने लगभग 480 कुमाउनी तथा 480 गढ़वाली गीतों में राम जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की पूरी राम कथा लिख डाली। मुन्श्यारी, थल, पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, शरदोत्सव, रानीखेत छावनी, उत्तरकाशी, जोशीमठ, चमोली, पाण्डुकेश्वर और गोचर में मैंने स्वयं उसके कई अंश निर्देशित किए और स्थानीय कलाकारों द्वारा उसे मंचित किया"। (शाह, 1980)।

स्वांग

स्वांग को नाटकों का आद्य स्वरूप माना जा सकता है और यह लोक जीवन में आज तक विद्यमान है। मोहन लाल बाबुलकर (1984) ने लोक नाट्य के धार्मिक और लौकिक या सामाजिक दो भेद करते हुए लौकिक नाटकों का एक उपभेद स्वांग माना है। स्वांग दो प्रकार के किये जाते हैं, व्यवसायी और अव्यवसायी। व्यवसायी अभिनेता आजीविका के लिए स्वांग करते हैं। अव्यवसायी स्वांग में जोकरी तथा नकल उतारकर मनोरंजन करने की प्रवृत्ति शामिल की जा सकती है। कुमाऊँनी-गढ़वाली में अव्यवसायी स्वांगों का प्रचलन अधिक रहा है। शादी ब्याह और होली जैसे उत्सवों के समय स्वांग अभिनेता किसी धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक या समसामयिक व्यक्ति के समान वेशभूषा धारण करके उसका अभिनय करते हैं। प्रायः उपस्थित समुदाय में सर्वविदित व्यक्ति का अभिनय अधिक लोकप्रिय बनता है। अधिकांश तौर पर यह हास्य रस प्रधान होता है। इसकी कोई पूर्व निश्चित कथावस्तु आदि नहीं होती। पर्वतीय क्षेत्र के ग्रामीण समाज में हास-परिहास पूर्ण मनोरंजन का प्रमुख साधन स्वांग ही होता

था, जिसमें नकल उतारना भी शामिल है। स्वांग शैली स्त्रियों में भी विशेष लोकप्रिय है। सामूहिक समारोहों में स्त्रियों की मंडली में स्त्रियाँ भी स्वांग अभिनय करती हैं। विवाह तथा उपनयन की 'रत्याली' और होली की बैठकों में स्त्रियाँ विविध प्रकार के स्वांग बनकर अपनी अभिनय कला का प्रदर्शन करती हैं। स्वांग किसी भी पात्र को आधार बनाकर किया जा सकता है। इसमें लोक समाज से सम्बद्ध कृषक, दुकानदार, फेरीवाला, राजा, देवता, नौजवान, पंडित, बूढ़े, बच्चे आदि किसी का भी अभिनय किया जाता है। पुरूषों द्वारा स्त्रियों के और स्त्रियों द्वारा पुरूषों के स्वांग बनने की प्रवृत्ति अधिक लोकप्रिय होती है।

रामलीला - रासलीला जैसे गंभीर नाटकों के बीच में मंच पर आने वाले जोकर का हास्य रसपूर्ण अभिनय भी स्वांग के ही अन्तर्गत माना जा सकता है। वह विविध प्रकार के आंगिक तथा वाचिक अभिनय द्वारा दर्शकों को हँसाता है। प्रासंगिक नाटक के पात्रों-प्रसंगों आदि पर सटीक व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया भी देता है और कभी-कभी दो दृश्यों के बीच की कड़ी भी बनता है। यह जोकर कई बार हास्य व्यंग्यकारों की भाँति हँसाते हुए सामाजिक बुराइयों की ओर भी सबका ध्यान आकृष्ट करता है।

हिलजात्रा

पूरे उत्तराखण्ड में भाद्रपद माह में शिव और पार्वती से सम्बन्धित अनेक उत्सव और मेलों का आयोजन होता है। पिथौरागढ़ जिले में इस माह में आठूं के नाम से गंवरा (गौरा) और महेश्वर की पूजा की जाती है, फिर खेल लगते हैं; अर्थात् झोड़े इत्यादि सामूहिक नृत्य किये जाते हैं। 'सों' इत्यादि फसलों के पौधों से बनाये गये शिव-पार्वती की पूजा के बाद उनका विसर्जन होता है। उसी समय हिलजात्रा नामक उत्सव आयोजित होता है। कृषि जीवन से जुड़ा यह अभिनययुक्त पर्व तिब्बत, नेपाल और पिथौरागढ़ का एक विशिष्ट मेला है। लोग गीत गाते हुए मिल जुलकर मुखौटे तैयार करके एक विशाल प्रांगण के खुले मंच पर इसका प्रदर्शन करते हैं। विशेष रूप से पिथौरागढ़ के कुमौड़ नामक ग्राम में विशाल जनसमूह के मध्य लकड़ी के मुखौटे पहनकर एक विशिष्ट प्रकार का अभिनय किया जाता है। इसके पात्रों के नाम, क्रम एवं कार्य परम्परागत रूप से निश्चित हैं - 1. घोड़िया (घोड़िया नामक चौकीदार), 2. झाड़ूवाला, 3. जाला अर्थात मछेरा, 4. दही वाला, 5. हलिया और बैल, 6. नानि

हौल (छोटे बैलों की जोड़ी), 7. नैपालि होल (नैपाली बैलों की जोड़ी), 8. ठुलि हौल (बड़े बैलों की जोड़ी), 9. पुतारियाँ (रोपाई करने वाली स्त्रियाँ), 10. हिरनचित्तल, 11. लखियाभूत, 12. नाई, 13. भालू, 14. भजन मंडली/बंजारे। ये पात्र इसी क्रम में आते हुए अपना-अपना अभिनय करते हैं, जैसे घोड़े का मुखौटा पहने चौकीदार आगे-आगे आकर एक प्रकार से सबको उत्सव के प्रति सूचित करता है। मछेरा जाल डालकर मछली पकड़ने का अभिनय करता है। दही वाला एक ठेकी (लकड़ी का बर्तन) लेकर सबको दही बांटता है। हलिया गल्या नामक बिगड़ैल बैलों को बरबस हांकता हुआ आता है। लकड़ी के बने बैलों के मुखौटे पहने हुए आदमियों को कन्धों व बगल में रस्सी से बांधा जाता है और उनके गले में घंटी बंधी होती है। ये जहाँ-तहाँ मुंह मारते हैं। रस्सी तोड़कर भागने की कोशिश करते हैं। उन्हें वश में रखना मुश्किल होता है। पुतारियों के मुखौटे नहीं होते। पुरूष ही स्त्रियों का वेश धारण करके पौधे रोपने का अभिनय करते हैं। ये स्त्रियाँ ढेले फोड़ती हैं, बीच-बीच में अपने छोटे बच्चों को (गुड़िया) स्तनपान कराके खेत में ही बिस्तर बिछाकर सुला देती हैं। हलिया के लिए हुक्का चिलम लाया जाता है। वह अपने बैलों की रस्सी किसी दूसरे को पकड़ाकर पेड़ की छाया में बैठकर हुक्का पीने लगता है। स्त्रियाँ खेत में कलेवा भी लाती हैं जिसे खेत में उपस्थित सभी पात्र खाते हैं। एक भजन मंडली ढोलक, हारमोनियम, चिमटा आदि बजाती हुई घूमती रहती है। उनके आगे पाँच स्त्रियाँ नाचती हुई जाती हैं।

ये लोग शिव के विवाह की खुशी में भजन गाते हैं और नाचते भी हैं। हिरन चित्तल नामक पात्र हिरन का मुखौटा और वस्त्र पहनकर उछलता कूदता रहता है। इस अभिनय का सबसे आकर्षक पात्र लखियाभूत है, जो सबके आखीर में भजन मंडली से पहले कूदता-फांदता प्रवेश करता है। इसकी काया लम्बी-चौड़ी और काली होती है। पैर, कमर तथा गले में घंटियाँ और घुंघरू बंधे होते हैं। रस्सियों से बंधे उसके शरीर को आठ आदमी अलग-अलग दिशाओं को खींचकर नियंत्रित करते हैं। लखिया पूरे प्रांगण का चक्कर काटकर सबको शुभाशीष देता हुआ वापस चला जाता है। इसके साथ ही हिलजात्रा प्रसंग पूरा होता है और गौरा महेश्वर का विसर्जन 'गोरिल' देव के मन्दिर पर किया जाता है। विदाई से पहले गौरा महेश्वर भी सबको आशीष दे जाते हैं कि आमा, बुबु (दादा-दादी), इजा, बाबा (माता, पिता), गाने बजाने वालो, तुम सब दीर्घायु होना, हम साल भर बाद भादो के महीने में फिर से ऋतु खेलने आयेंगे। इजा, अपनी अंगिया और घाघरी धो के, सुखा कर रखना, हम फिर ऋतु खेलने आयेंगे।

लखियाभूत शिवजी का गण माना जाता है, किन्तु गणों या देवताओं की भांति न इसकी पूजा होती है और न जागर लगाया जाता है। इसे भगवान शंकर का बारहवां अवतार भी माना गया है। इसलिये हिलजात्रा के समय इसे फूल-चावल आदि चढ़ाये जाते हैं (योगेश खन्ना, 1992)। इस पात्र के विषय में अलग-अलग दन्त कथाऐं प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार दक्ष प्रजापति द्वारा शिवजी का अपमान करने के कारण सती द्वारा आत्मदाह करने का समाचार सुनकर क्रोधित हुए शिव ने अपनी जटा उखाड़कर जमीन पर पटकी तो वीरभद्र नामक गण पैदा हुआ और शिव की आज्ञा पाकर दक्ष के यज्ञ को तहस-नहस करने लगा। दक्ष द्वारा शिव से क्षमा मांगने के बाद शिव ने वीरभद्र को रोका, लेकिन वह रक्तपिपाशु बन चुका था, इसलिये उसके लिये बकरी की बलि नियत करके शिवजी ने बारह अन्य गणों को पैदा करके सृष्टि की रचना आरंभ की। लखिया भूत को इसी वीरभद्र का प्रतीक और शिव के तांडव का अंग मानकर पुष्प आदि चढ़ाये जाते हैं।

एक दूसरी कथा के अनुसार शिव-पार्वती के विवाह के बाद बाराद लौटते समय रास्ते में आग लग गयी। लखिया ने शिव को पय्यां (पदम) तथा सती को चीड़ के पेड़ पर बिठा दिया। पास ही कुछ किसान 22 जोड़ी बैलों और 37 पुतारियों के साथ रोपाई कर रहे थे। वे सब आग बुझाने आये और आग में ही समा गये। अपने भयानक शरीर के बावजूद लखिया भी शिव-पार्वती को बचाने में स्वयं जल गया। तब से इन सबके स्मरण में हिलजात्रा मनाई जाती है। यह जनश्रुति प्रासंगिक प्रतीत होती है, क्योंकि हिलजात्रा के पहले आठूं के अवसर पर शिव-पार्वती का विवाह रचाया जाता है। उसके बाद हिलजात्रा में कृषि जीवन का अभिनय किया जाता है।

पहले से लखिया किसी हष्ट-पुष्ट आदमी के शरीर में अवतरित होता था। उसके बाद वही व्यक्ति हिलजात्रा में लखिया का अभिनय करता था, किन्तु लगभग 20-25 वर्ष पूर्व दैवयोग से लखियाभूत का अभिनय करने वाले व्यक्तियों की इसके कुछ ही माह बाद मृत्यु होने लगी। तीन वर्षों तक लगातार तीन बलिष्ठ नौजवानों की मृत्यु के कारण ग्रामवासियों ने हिलजात्रा मनाना छोड़ दिया। लेकिन फिर कई लोगों को इस सम्बन्ध में स्वप्न होने लगे। अतः बुजुर्गों ने सभी को बुलाकर इसको पुनः आरंभ करने का निर्णय लिया। तब से उत्सव के पहले लखिया के नाम से बकरी की बलि

चढ़ाते हैं। तथा गाँव वाले अपनी इच्छा से लखिया के पात्र के लिये हर साल अलग-अलग अभिनेता चुनते हैं। लखिया का अवतार यह अभिनय नहीं करता।

पहले से हिलजात्रा का उत्सव पिथौरागढ़ के आसपास के अनेक गांवों में होता था। अब इसका विशाल स्वरूप सिर्फ कुमौड़ गाँव में ही दिखायी देता है। अन्य गांवों में इसका स्वरूप अति संक्षिप्त हो गया है या परम्परा टूट चुकी है।

हिलजात्रा का उत्सव नेपाल से आया हुआ माना जाता है। वहाँ इसका उत्सव इन्द्रजात्रा के नाम से मनाया जाता है। पिथौरागढ़ में प्रचलित कथा के अनुसार पूर्वकाल में एक बार पिथौरागढ़ के चार पराक्रमी महर भाइयों ने नेपाल के पशुपतिनाथ के उत्सव में भाग लिया। वहाँ बलि के लिये लाये हुए भैंसे के बड़े-बड़े मुड़े हुये सींगों के कारण एक ही वार में उसका सिर काटना मुश्किल हो रहा था। महर भाइयों ने चतुराई और पराक्रम से एक ही वार में भैंसे का सिर काटकर राजा को प्रसन्न किया। बदले में राजा ने उन्हें उस उत्सव के लकड़ी के मुखौटे भेंट में दिये। अपने घर लौटने पर महर भाइयों ने उन मुखौटों से अपने क्षेत्र में भी यह उत्सव प्रारंभ किया, जो पूरी सोर घाटी में फैल गया। इसी कारण कुमाऊं या गढ़वाल के शेष भाग में इसका प्रचलन नहीं है।

हिलजात्रा का पुराना नाम हौल जतिया था। हौल का अर्थ बैलों की जोड़ी और जतिया का अर्थ स्वच्छंद भैंसा होता है। कुमाउनी में हिल का अर्थ कीचड़ भी है, इसलिये कुछ लोग इसे कीचड़ और हल आदि से जुड़े कृषि उत्सव के रूप में मानते हैं।

चन्द कालीन ताम्र पत्रों से प्रतीत होता है कि यह उत्सव यहाँ पर ग्यारहवीं सदी से पूर्व आरम्भ हो चुका था (खन्ना, 1992)। इससे काफी पूर्व से यह नेपाल में प्रचलित था। स्थानीय बुजुर्ग बताते हैं कि नेपाल से पूर्व यह तिब्बत में भी मनाया जाता था। इसलिये हम यह मान सकते हैं कि मध्य हिमालयी क्षेत्र के मूल निवासियों ने इस उत्सव की शुरूवात कृषि युग में तब की होगी, जब देश के अन्य क्षेत्रों का यहाँ कोई प्रभाव नहीं था। बैल, हिरन, लखिया जैसे पात्र, घास और फूलों से सजे हुये घोड़े तथा हिरन एवं लकड़ी के मुखौटे भी इसकी प्राचीनता के सूचक हैं।

प्रकीर्ण साहित्य

भाषा बनने के कई वर्षों पश्चात् उसमें चमत्कृति और लाक्षणिकता उत्पन्न कर अपने कथन को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने एवं बुद्धि विलास द्वारा मनोरंजन करने के आशय से लोकोक्तियों- मुहावरों तथा प्रहेलिकाओं आदि साहित्यिक लघु स्वरूपों का जन्म हुआ। कुमाऊं-गढ़वाल के लोक व्यवहार में इनका प्रयोग काफी अधिक होता है। यहाँ के सार गर्भित प्रकीर्ण साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का उत्तम विकास हुआ है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

कुमाउनी और गढ़वाली भाषाओं में मुख्य रूप से पाँच-छः प्रकार की लोकोक्तियाँ मिलती हैं; नारी सम्बन्धी, जाति सम्बन्धी, नीति सम्बन्धी, भाग्य सम्बन्धी, व्यवहार सम्बन्धी तथा हास्य व्यंग्यपूर्ण।

नारी सम्बन्धी लोकोक्तियों में पर्वतीय जीवन में नारी की स्थिति, पति-पत्नी के सम्बन्ध, सास-बहू के सम्बन्ध, स्त्री के अच्छे या बुरे चरित्र आदि पर लाक्षणिक और चमत्कारिक किन्तु सहज और संक्षिप्त भाषा में विस्तृत अर्थपूर्ण बातें कही गई हैं; यथा –

.सौण मरि सास, भदौ एक आँसू
(सावन में सास मरी, भादों में एक आँसू निकला)

धाण कर ब्वारि, तागतै ना
खाण हुँ आ ब्वारि, ठुलि थालि काँ
(काम कर बहू, ताकत ही नहीं है। खाने को आ बहू, बड़ी थाली कहाँ है।)

जैक ज्वे नै, वीक क्वे नै
(जिसके यहाँ स्त्री नहीं, उसका कोई नहीं)

औरतन खोल्या दन्त, मर्दन पायो अन्त
स्यौणिलि दिखै दन्त, बैगैलि पाय अन्त
(स्त्री के हँसते ही पुरूष उसका भेद जान जाता है)

कबि बूड कड़कड़ि, कबि बुइया कड़कड़ो
(कभी बुढ़िया ऐंठती हैं, कभी बुड्ढ़ा)

अधेन बामण, भैसेंन खीर
(ब्राह्मण का पेट भर गया तो खीर में भैंस की गंध आने लगी)

गढ़वाल कटक कुमौ सटक
कुमौ कटक गढ़वाल सटक
(गढ़वाल में युद्ध छिड़ा तो कुमाऊं को भागे और कुमाऊं में युद्ध छिड़ा तो गढ़वाल को)

खस्याकि रीस, भैंसाकि तीस
(क्षत्रिय का गुस्सा और भैंस की प्यास एक सी)

सौं है ब्याज प्यार, च्यल है नाति प्यार
(मूलधन से ब्याज और बेटे से नाती अधिक प्यारा होता है)

गास देणो पर वास नी देणो
(अनजाने व्यक्ति को भोजन देदो, पर आवास न देना चाहिए)

अगने की मुछलि जगी पिछने औद
अधिलैकि लाकड़ि जलि, पछिले ऊँछि
(आगे की लकड़ी जलकर पीछे ही पहुँचती है)

जाँ कुकुड नि बासन वाँ रात नै जै के ब्यानि
जख कुखाड़ों नि हूँद उख रात नि खुल्दि
(जहाँ मुर्गा नहीं बोलता वहाँ रात नहीं खुलती क्या)

कुनलि के देखणि, मुनलि देखण
(जन्मकुण्डली क्या देखते हो, माथा देखो)

मन, घोड़ामां, कर्म लोहामा
(मन घोड़े में दौड़ता है, कर्म पत्थर में रखे हैं)

गेलि न पल्ला, द्वि ब्यौ कल्ला
(पल्ले में दमड़ी नहीं, दो शादियाँ करेंगे)

तेरि पैलाग, म्येरि कथप
(तुम्हारा प्रणाम मेरा ध्यान कहीं और)

भूत पूजौ भूताणि लागि
(भूत को पूज कर मनाया तो भूतनी पीछे पड़ गई)

इन लोकोक्तियों में जीवन का कोई भी विषय छूटा नहीं है। ये प्रायः यहाँ के ग्रामीणों की वाणी में ऐसी बसी होती हैं कि व्यवहार में लम्बी-लम्बी बातों के स्थान पर सटीक लोकोक्ति का प्रयोग करके चुप हो जाते हैं। अतीत और वर्तमान के अनेक सन्दर्भों को व्यक्त करती कई लोकोक्तियाँ हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं की ही नहीं, अंग्रेजी की कहावतों से भी साम्य रखती हैं; जैसे -

अंग्रेजी - टू मैनी कुक्स स्पौइल द ब्रथ
कुमाउनी - जादे बिरावूं में मुस नि मरन
गढ़वाली - जख सौ सल्लि तख किलै हुण भल्लि

अंग्रेजी - यू लेडी आइ लेडी हू विल ब्रिंग द स्वाइन इन
कुमाउनी - तु देवती मी देवती भनेर को भुकती
गढ़वाली - तू वी राणी मी वी राणी को कुटलू चीणादाणी

इन भाषाओं के मुहावरों में भी कुछ हिन्दी इत्यादि के मुहावरों से मिलते-जुलते हैं एवं कई नितान्त मौलिक हैं; जैसे - कपाल फुटण (जन धन हानि होना), नरै लागण या खुद लागण (बहुत याद आना), क्वीड़ करण (किसी की आलोचना करना या गप्पें लगाना), कौतिक करण (शोर गुल करना), शांक घाँट बजूण (मंगल कार्य प्रारम्भ होना), नरसिंह नचण (क्रोधित होना), तीत भीत हुण (सर्वनाश हो जाना) इत्यादि।

पहेलियाँ

संस्कृत की प्रहेलिका कुमाऊँनी में 'आणं' और गढ़वाली में 'आणा' नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। यह बुद्धि परीक्षण के रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है। ग्रामीण वातावरण

के चुने हुए प्रतीकों में से जनजीवन से सम्बन्धित सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में पहेलियाँ बनाकर पूछने की यहाँ पुरानी परम्परा है। कथा-गाथाओं की भाँति सर्दियों में आग के पास बैठकर पहेलियाँ बूझकर मनोरंजन और बौद्धिक व्यायाम करने की प्रवृत्ति कुछ वर्ष पूर्व तक इस पूरे क्षेत्र में अत्यन्त रोचक थी। कुछ स्थानीय पहेलियाँ–

1. चमकनि बामणि लमकनि धोति
   (चमकती ब्राह्मणी, लम्बी धोती)-सुई तागा
2. भौं-भौं करणि भोंकरि छ, आसन बादि जोगि छ
   (भौं-भौं करता बाजा है, आसन बाँधे जोगी है)-पनचक्की
3. एक खड़ी, एक पड़ी, एक दमादम नचणी-रोटी
4. रौंई-पौंई जोति नि सक
   चपकन सिकड़ टोड़ि नि सक
   थाई भरि रूपैं गणि नि सक-बाघ, साँप, तारे
   (झलमलाते बैलों को जोता नहीं जा सकता, चमकती लकड़ी को तोड़ा नहीं जा सकता और थाली में भरे रूपयों (सिक्कों) को गिना नहीं जा सकता)
5. हाड़ न मास, गल गलु गात (जौंक)
6. सुफेद बखारियौं न उड्यार भरयुं छ-दाँत
   (सफेद बकरियों से गुफा भरी है)

स्थानीय समाज में छुट-पुट रूप से प्रचलित लोरी, बालगीत तथा क्रीड़ागीतों को भी प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत रखा गया है। इनका वर्ण्य विषय अधिकतर प्रकृति तथा दैनिक जीवन की वस्तुओं से सम्बद्ध होता है, जैसे–

घुघुती, बासुती,
आम काँ छ
बाड़ में छ
के करणै छ
बड़ पकूणै छ
एक बड़ो मैं दे
काच्वे छ नाती काच्वे छ।

(घुघुती/पक्षी का नाम/आम(दादी) कहाँ है? क्यारी में। क्या कर रही है? बड़ा पका रही है। एक बड़ा मुझे दे दे। कच्चा ही है)।

अधिकांश तौर पर बच्चों के परिचित विश्व से सम्बद्ध होने के कारण काल के परिवर्तन के साथ- साथ उनके वस्तु तथा स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। इसके संरक्षण की ओर ध्यान न दिये जाने के कारण इसका पिछला स्वरूप काल की गर्त में विलीन होता जाता है। इसीलिए लोक साहित्य के संकलन कर्ताओं को बालगीत, खेलगीत, लोरी आदि से युक्त प्रकीर्ण साहित्य बहुत कम उपलब्ध हो पाता है।

संदर्भ सूची

1. ऐटकिन्सन, ई.टी.; कुमाऊं के तीज त्यौहार तथा पारिवारिक धार्मिक कर्म; नन्दाभारती (सं. 'बटरोही').
2. खन्ना, योगेश; हिलजात्रा; उत्तराखंड-6, (सं. जोशी, प्रमोद), उत्तराखंड शोध संस्थान इकाई, पन्तनगर; 1992.
3. गुरुरानी बालादत्त; पर्वतीय रामलीला; रामलीला स्मारिका (सं. पांडे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भण्डार, अल्मोड़ा; 1980.
4. चतुर्वेदी, परशुराम; भारतीय प्रेमाख्यान परंपरा; लोक भारती प्रकाशन, प्रयाग; 1962.
5. चातक, गोविन्द; गढ़वाली लोकगीत; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 1968.
6. चातक, गोविन्द; गढ़वाली शब्द-सामर्थ्य; कुछ दिशाऐं; उत्तरीय (सं. पन्त, सुरेश); उत्तरीय प्रकाशन, जनकपुरी, दिल्ली; 1980.
7. जोशी, अवनीन्द्र कुमार; भोटान्तिक जनजाति; प्रकाश बुक डिपो, बरेली; 1983.
8. जोशी, कमल एवं कपूर, थ्रीस; नन्दा राजजात, पहाड़-3; नैनीताल; 1989.
9. जोशी, महेश्वर प्रसाद; मोरफोजेन्सिस ऑफ कुनिन्दाज; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1989.
10. जोशी, महेश्वर प्रसाद; उत्तरांचल हिमालया, एन ऐसे इन हिस्टोरिकल एनथ्रोपालाजी; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1991.
11. जोशी, एम.पी.; फ्रेन्नार, ए. सी; ब्राउन, सी.डब्ल्यू (सं.); हिमालया पास्ट एण्ड प्रजेन्ट वोल्यूम 1, 2 तथा 3; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1990-94.

12. जोशी, एम.पी.; जोशी, ललित प्रभा (सं.); उत्तरांचल हिमालया; समाज, संस्कृति, इतिहास एवं पुरातत्व; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1994.

13. जोशी, नीलांबर; पर्वतीय संस्कृति; रामलीला स्मारिका (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1980.

14. नौटियाल, शिवानन्द; गढ़वाल के लोकगीत एवं लोकनृत्य; सुलभ प्रकाशन, लखनऊ; 1990.

15. नौटियाल, शिवानन्द; गढ़वाल दर्शन; सुलभ प्रकाशन, लखनऊ; 1988.

16. पाण्डे, केशवदत्त; रामलीला में आसुरी शक्तियों की घुसपैठ; रामलीला स्मारिका (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1980.

17. पाण्डे, गोपाल दत्त (सं.); मानस खण्ड; चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी; 1989.

18. पाण्डे, त्रिलोचन; कुमाऊँनी लोक साहित्य की पृष्ठभूमि; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1962.

19. पाण्डे, बद्रीदत्त; कुमाऊं का इतिहास; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1990.

20. पाण्डे, शिवचरण; अल्मोड़ा की रामलीला; एक शब्द चित्र; पुरवासी (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1984.

21. पाण्डे, हेम चन्द्र; होली-कुमाऊं की; रामलीला स्मारिका (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1980.

22. पोखरिया, देवसिंह; कुमाउनी भाषा, साहित्य और संस्कृति; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1994.

23. फलकियाल, हयात एवं सीपाल, चन्द; चौदास का महापर्व; पहाड़-3; नैनीताल; 1989.

24. बाबुलकर, मोहनलाल; लोकनाट्य की दो सशक्त प्रस्तुतियाँ, रामलीला और पौराणिक नाट्य मंच; पुरवासी, (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1984.

25. बिष्ट, शेरसिंह; हिन्दी-कुमाउनी-अंग्रेजी शब्दकोश; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1994.

26. मठपाल, यशोधर; उत्तराखण्ड की आद्य ऐतिहासिक संस्कृति तथा कला; पहाड़ अंक 5-6; नैनीताल; 1992.

27. रतूड़ी, हरिकृष्ण; गढ़वाल का इतिहास; भागीरथी प्रकाशन, टिहरी; तृतीय संस्करण; 1988.

28. रुवाली, केशवदत्त; कुमाउनी भाषा और संस्कृति; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1994.

29. रुवाली, केशवदत्त; उद्‌गम के आधार पर कुमाउंनी शब्दों का वर्गीकरण; उत्तरीय (सं. पन्त, सुरेश); उत्तरीय प्रकाशन, जनकपुरी, दिल्ली; 1980.

30. वैष्णव, यमुनादत्त; कुमाऊं का इतिहास, माडर्न बुक स्टोर्स, नैनीताल; 1977.

31. सक्सेना, कौशल किशोर; कुमाऊं : कला, शिल्प और संस्कृति; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा; 1994.

32. सांकृत्यायन, राहुल; कुमाऊं; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी; 1953.

33. शर्मा, डी.डी.; कुमाउनी संस्कृति में आर्य तरांश; उत्तराखण्ड सेवानिधि, नैनीताल; 1989.

34. शर्मा, देवीदत्त; मध्य पहाड़ी बोलियों में आग्नेय तथा तिब्बत-बर्मी तत्व; उत्तरीय (सं. पन्त, सुरेश); उत्तरीय प्रकाशन, जनकपुरी, दिल्ली; 1980.

35. शाह, बृजेन्द्र; रामकथा में लोकगीतों का उपयोग; रामलीला स्मारिका (सं. पाण्डे, शिवचरण); श्री लक्ष्मी भंडार, अल्मोड़ा; 1980.

36. हरबोला, सुनील; स्याल्दे बिखौती - कुमाऊं की बैसाखी; उत्तराखण्ड-3; उत्तराखण्ड शोध संस्थान, पन्तनगर एकक; 1989.

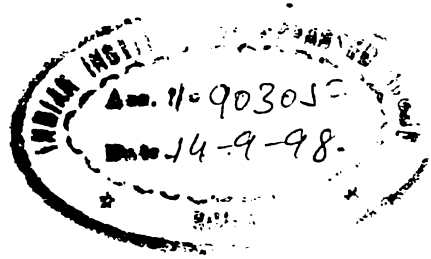

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	भारतीय चिन्तन	डॉ. शंकर दयाल शर्मा (राष्ट्रपति भारत)
2.	लोकतंत्र की प्रक्रिया	डॉ. शंकर दयाल शर्मा
3.	हमारे राष्ट्रपति-डॉ. शंकर दयाल शर्मा	प्रीति
4.	ऐसे बने महान	डॉ. विजय अग्रवाल
5.	राजा भोज की चतुराई	डॉ. विजय अग्रवाल
6.	जो झुके नहीं, जो रूके नहीं	डॉ. विजय अग्रवाल
7.	विविधा-(कहानी संग्रह)	डॉ. रेखा ढैला
8.	पृथक् पर्वतीय राज	डॉ. नवीन चन्द्र ढौंडियाल
9.	लोक संस्कृति के विविध आयाम	डॉ. पोखरिया
10.	गोलू देवता, कुमाऊँ-हिमालय के न्याय देवता	डॉ. चन्द्रमोहन अग्रवाल
11.	हिमालय के उपयोगी पशु	डॉ. सोमवंशी
12.	कुमाऊँनी भाषा एवं संस्कृति	डॉ. के. डी. रुवाली
13.	कुमाऊँनी-हिन्दी शब्दकोश	डॉ. के. डी. रुवाली
14.	हिन्दी-कुमाऊँनी-अँग्रेजी शब्दकोश	डॉ. शेरसिंह बिष्ट
15.	कुमाऊँनी भाषा-साहित्य एवं संस्कृति	डॉ. पोखरिया
16.	कुमाऊँनी लोक साहित्य एवं लोक गीत	डॉ. पोखरिया
17.	कुमाऊँ का इतिहास	कुमाऊँ केसरी स्व. बद्रीदत्त पाण्डे
18.	कुमाऊँ की लोक कला, संस्कृति एवं परम्पराएँ	डॉ. कृष्णा वैराठी
19.	कुमाऊँ शिल्प कला एवं संस्कृति	श्री कौशल किशोर सक्सैना
20.	भारतीय नारी : विविध आयाम (भाग 1 व 2)	डॉ. चन्द्रमोहन अग्रवाल
21.	बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी और भारत के अतीत की खोज	डॉ. ओम प्रकाश केजरीवाल
22.	इक्कीसवीं सदी में गाँधी	डॉ. बटरोही
23.	उत्तराखण्ड आज (अंग्रेजी-हिन्दी)	स. डॉ. वल्दीया
24.	ऐसे थे बापू	डॉ. विजय अग्रवाल
25.	पृथक् उत्तराखण्ड राज्य का अ विकास के नये आयाम-सम्भा	
26.	अठमंगली (कहानी संग्रह)	ा शाह
27.	हिन्दी कहानी के 9 कदम	ह नेगी
28.	संल्कप की ओर	टरोही
29.	उत्तरांचल हिमालय, समाज, संस्कृति एवं पुरातत्व	ह नेगी
		डॉ. एम. पी. जोशी

Library
IIAS, Shimla
H 398.209542 B 469 U
00090305

श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
माल रोड, अल्मोड़ा-263601
दूरभाष : 22148, 22113

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

प्रेमा नन्दकुमार

H
922.94
R 118 N

H
922.94
R118N

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई॰
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मूल
प्रेमा नन्दकुमार

हिन्दी अनुवाद
जवाहरलाल द्विवेदी

साहित्य अकादेमी

Sarvapalli Radhakrishnan : Hindi translation by Jawaharlal Dwivedi of the monograph on *S. Radhakrishnan* (Philosopher and writer) by Prema Nandakumar in English, Sahitya Akademi, New Delhi (1998) Rs. 25

© साहित्य अकादेमी
पहला संस्करण : 1998

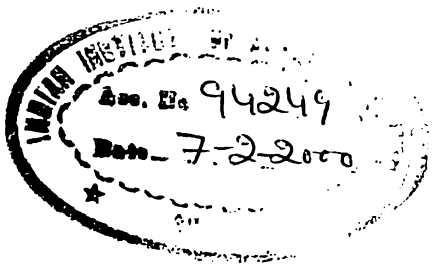

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110001

R118 N

विक्री केन्द्र
स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, 304-305, द्वितीय तल अन्ना सलाई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
एडीए रंगमन्दिर, 109 जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-0435-5

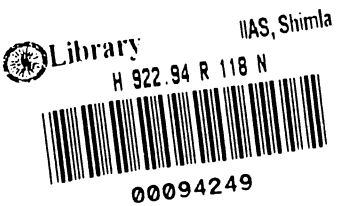

मूल्य : पच्चीस रुपये

लेज़र टाइपसेटिंग एवं मुद्रक : पवन ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

प्राक्कथन

भारतीय साहित्य के निर्माताओं में सर्वपल्ली राधाकृष्णन का एक सुनिश्चित स्थान है, क्योंकि वे हमारे समय के सर्वोत्तम दार्शनिक राजनेता ही नहीं थे, वल्कि अंग्रेज़ी के सशक्त लेखक भी थे। वास्तव में, वह उनका अंग्रेज़ी भाषा का पाण्डित्य ही था जिसने उन्हें विश्व-स्तरीय व्यक्तित्व वनने में सहायता पहुँचाई। पश्चिमी श्रोताओं के समक्ष वे प्राचीन एवं समृद्ध भारतीय धर्म, दर्शन और आध्यात्मिकता का विवेचन अपने मधुर अंग्रेज़ी व्याख्यानों के सहारे प्रभावशाली ढंग से कर सकते थे। उनके व्याख्यान संस्कृत पदावली से समृद्ध और भाषाई लय से सम्पन्न होते थे।

आन्ध्र विश्वविद्यालय के वातावरण में जहाँ मैंने वर्षों अध्ययन किया, राधाकृष्णन की उपस्थिति लगातार महसूस होती थी। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय, जिसे उन्होंने उसके प्रारम्भिक दौर में प्रोत्साहित किया था, मेरे लिए एक प्रेरणा-स्थल रहा। अतः 'भारतीय साहित्य के निर्माता' शृंखला के लिए जब उस महान व्यक्तित्व पर एक निबन्ध लिखने का आग्रह साहित्य अकादेमी ने मुझसे किया तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। साहित्य अकादेमी के प्रति मैं इस बात के लिए कृतज्ञ हूँ कि उसने मुझे यह अवसर दिया ताकि मैं अपने एक राष्ट्रीय आचार्य को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकूँ।

यद्यपि, निष्कर्ष निकालने में मेरे लिए राधाकृष्णन की कृतियाँ मुख्य आधार रही हैं, साथ ही उनके द्वारा लिखी गयी उनके पिता की जीवनी से भी मैंने बहुत लाभ प्राप्त किया है। मेरे पिता के.आर.श्रीनिवास आयंगर तथा माँ श्रीमती पद्मासनी की स्वतःस्फूर्त और आलोचनात्मक सहायता से मुझे इस पुस्तक के समग्र लेखन में लगातार मदद मिली। उन्हें मेरा कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद।

श्रीरंगम्
(तमिलनाडु)

–प्रेमा नन्दकुमार

अनुक्रम

1.	भारत : विश्वगुरु	9
2.	जीवन	11
3.	जीवनी-लेखक	23
4.	दर्शन के व्याख्याता	29
5.	धर्मग्रन्थों के व्याख्याता	41
6.	धर्म के व्याख्याता	53
7.	दार्शनिक	62
8.	शिक्षा शास्त्री	72
9.	राजनेता	80
10.	सार्वभौम व्यक्तित्व	85
11.	शैली ही व्यक्ति है	93
	सन्दर्भ-ग्रंथ	99

1

भारत : विश्वगुरु

भारतीय संस्कृति का एक अलिखित इतिहास है, जो कि कई हज़ार वर्षों पीछे तक फैला हुआ है। जैसा कि 2000 वर्षों का सीमित लिखित विस्तार दर्शाता है, हमारे सांस्कृतिक विकास को भारतीय स्वभाव ने सदा ही एक आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की है। यहाँ साहित्य, धर्म, दर्शन, शासन और विज्ञान कभी भी आध्यात्मिक विचार दृष्टि से अलग नहीं रहे। विषयों के बीच कोई विभाजन नहीं था और उन्होंने सदा ही एक दूसरे को प्रभावित और प्रेरित किया। श्री अरविन्द के अनुसार ऐसा इसलिए सम्भव था, क्योंकि भारतीय विचार दृष्टि 'रूप के माध्यम से देखती है, बल के माध्यम से देखती है और वस्तुओं में सर्वत्र आत्मा की खोज करती है।'

तथापि, पिछली शताब्दी के मध्यवर्ती वर्षों के आसपास एक वास्तविक संकट आया, जिससे भारतीय संस्कृति जो कि अध्यात्म शक्ति की अनन्तता पर पली-पुसी थी, प्राचीन ग्रीक सभ्यता की तरह एक जीवावशेष मात्र रह गयी है। भारतीय जन प्रायः सभी चीज़ों के लिए पश्चिम की ओर अभिमुख हुए। उन दिनों के दासवत् अन्धानुकरण के विषय में लिखते हुए श्री अरविन्द कहते हैं :

> "आर्थिक दृष्टि से हमने महान् सफलता प्राप्त की है—अपने उद्योगों को नष्ट करने और अपने आप को ब्रिटिश व्यापारियों का दास बनाने में, नैतिक दृष्टि से हमने प्राचीन नैतिक विचारों और आदतों का विघटन कर दिया है और उनके स्थान पर एक सतही प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है, अपने असीम, विशाल और शाश्वत दाय (विरासत) को त्यागकर यूरोपीय विचार के कुछ अवशेषों, कतरनों और कूड़ा-करकट से अपने मस्तिष्क को सँवारने में हम बौद्धिक रूप से गर्व महसूस करते हैं।"

इस आत्महन्ता सम्मोहन से भारतीयों को इससे अधिक शक्तिशाली सम्मोहन के आचार्य के द्वारा बचाया गया, जिसने उन्हें समय पर सचेत किया। स्वामी विवेकानन्द के इस परामर्श से कि 'जागो, उठो और बढ़ते रहो, जब तक कि लक्ष्य तक न पहुँच जाओ' भारत अपने पुनर्जागरण के चरमबिन्दु पर पहुँचा और इसे श्रेष्ठ व्यक्तित्वों,

जैसे राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और श्री अरविन्द न प्रेरित किया।

कहना चाहिए कि भारत का यशस्वी अतीत सुरक्षित था। अध्ययन के लिए संस्कृत अथवा अन्य भारतीय भाषाओं को चुनना अव्यावहारिक नहीं था। इसी समय लेखकों ने प्राचीन पुराण कथाओं के पुनर्विवेचन के लिए अतीत की ओर लेखनी घुमायी। भारतीय वैज्ञानिकों ने मदद के लिए प्राचीन अन्तर्दृष्टियों में झाँका। इन सबमें चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के कथनानुसार 'देवी सरस्वती के उपहार' में अंग्रेज़ी भाषा ने अमूल्य योगदान दिया। जैसे ही बीसवीं सदी का उषा-काल आया एक नया व्यक्तित्व या उत्साह चारों ओर फैला। भारतीयों ने अंग्रेज़ी भाषा में कम समय में ही विद्वत्ता हासिल कर ली और इसके माध्यम से उन्होंने भारतीय पुनर्जागरण को तीव्र किया। ऐसा लगा, जैसे अतीत अपनी सारी भव्यता के साथ लौट आया हो और दुनिया उसे आश्चर्य से देखती रही। ऐसे ही प्रमुख भारतीयों में, जिन्होंने इसे सम्भव बनाया, संस्कृत और दर्शन के विद्यार्थी सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी एक थे।

2

जीवन

राधाकृष्णन के जीवन के विषय में सर्वोत्तम जानकारी उनकी पुस्तक *माई सर्च फ़ॉर ट्रुथ* (सत्य के लिए मेरी खोज) के प्रारम्भिक उद्धरण से प्राप्त की जा सकती है :

> "मेरा जन्म दक्षिण भारत में मद्रास से 40 मील उत्तर-पश्चिम में एक छोटे-से क़स्बे तिरूत्तनी में 5 सितम्बर 1888 को हुआ था। मैं एक हिन्दू माँ-बाप की दूसरी सन्तान था जिनकी सोच धार्मिक और पारम्परिक थी। जन्म और सम्पत्ति का मैंने कोई लाभ नहीं उठाया। मेरे जीवन के प्रारम्भिक 12 वर्ष तिरूत्तनी और तिरूपति में बीते और ये दोनों ही प्रसिद्ध तीर्थस्थल हैं। मैं इस बात का आकलन नहीं कर सकता कि यथासमय मुझे स्वयं (आत्म) का ज्ञान प्राप्त हुआ और घटना प्रवाह के पीछे एक अदृष्ट विश्व की वास्तविकता में मेरा दृढ़ विश्वास बना। इस अनदेखे विश्व को हम इन्द्रियों से नहीं, बल्कि मन से समझ सकते हैं, और जब भी मुझे गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा मेरा यह विश्वास अटल रहा है।"

राधाकृष्णन के पिता सर्वपल्ली वीरास्वामी स्थानीय ज़मींदार के कोर्ट में एक अधीनस्थ राजस्व अधिकारी थे। उन्हें एक बड़े परिवार का ख़र्च चलाना था, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने पूरे प्रयास से राधाकृष्णन को पहले तिरूत्तनी हाईस्कूल बोर्ड और बाद में तिरूपति के हर्मेंसबर्ग इवेंजेलिकल लूथरन मिशन स्कूल में पढ़ाया। मैट्रिक पास करने के बाद राधाकृष्णन ने वेल्लोर के वोरी कॉलेज में छात्रवृत्ति सहित दाख़िला लिया और अपने विद्यार्थी काल में ही उन्होंने सिवाकामू से विवाह कर लिया।

1904 में राधाकृष्णन ने विशेष योग्यता के साथ प्रथम कला परीक्षा पास की। उन्हें मद्रास के क्रिश्चियन कॉलेज में बी. ए. करने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की गयी, ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी विशेष रुचि भौतिक विज्ञान में थी, किन्तु अध्ययन के लिए उन्होंने दर्शनशास्त्र इसलिए चुना क्योंकि उन्हें उनके चचेरे भाई से दर्शनशास्त्र की किताबें मुफ़्त में मिल रही थीं, जिसने उसी वर्ष बी. ए. किया था। इस तरह उन्होंने ऐसा करके काफ़ी पैसे बचाये। आश्चर्य है कि उस समय

का यह आकस्मिक चुनाव उन्हें सफलता के सर्वोच्च शिखर पर ले गया और उनके निजी दर्शन का निर्माण किया। सर्वपल्ली गोपाल कहते हैं :

> "इस तथ्य ने कि इसमें वे धकेल दिये गये थे, और इस प्रक्रिया में गहन ज्ञान तथा विश्वव्यापी ख्याति मिली, उन्हें इस बात का क़ायल बना दिया कि उनका जीवन उनकी अपनी नहीं बल्कि उस शक्ति की दस्तकारी है, जिसे प्रकृति, भाग्य, विधाता, ईश्वर या और कुछ कहा जाता है। जिस तरह उनकी सफलता फली-फूली उससे वे इस बात पर दृढ़ निश्चयी हो गए थे कि उनका जीवन किसी अदृष्ट हाथ द्वारा निर्मित हो रहा है। अधिक-से-अधिक वे इसे विभिन्न पहलुओं के साँचे में ढालने की कोशिश कर सकते हैं और वे अधिकतम मात्रा में स्वयं को, अपने निर्णयों को और अपने विवेक को अपने उसी नक्षत्र के प्रति प्रतिबद्ध मानते थे।"

मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में राधाकृष्णन का जीवन भाग्यशाली रहा। अंग्रेज़ी साहित्य के विख्यात शिक्षक विलियम मिलर तथा दर्शन के शिक्षक विलियम स्किनर और ए. जी. हॉग उनके प्रेरणा-स्रोत थे। ये शिक्षक (ईसाई) मिशनरियों जैसे धर्मान्ध अथवा संकीर्ण विचारों के नहीं थे। राधाकृष्णन का इनसे गहरा लगाव हो गया था। इन शिक्षकों की विशाल विद्वत्ता, विश्लेषणवादी सोच और अपने निजी धर्म के प्रति इनके निष्ठापूर्ण लगाव पर राधाकृष्णन मोहित थे। उन्हें लगा कि एक वृहत् चेतना का अंग होकर भी अपने धार्मिक दायरे में रहा जा सकता है। इस तरह हमारे भावी आचार्य का प्रारम्भिक काल अत्यन्त फलप्रद था।

सन् 1906 में राधाकृष्णन ने प्रथम श्रेणी में बी. ए. पास किया। इसके बाद उन्होंने क़ानून का अध्ययन करना चाहा लेकिन 'लॉ कॉलेज' में दाख़िला लेने के लिए उनके पास वित्तीय संसाधनों का अभाव था। उन्हें अपने माता-पिता तथा छोटे भाइयों की मदद करनी थी। अतः उन्होंने 25 रुपये प्रतिमाह की छात्रवृत्ति स्वीकार करते हुए एम.ए. में दाख़िला ले लिया। संघर्ष भरे इन वर्षों के दौरान राधाकृष्णन ने अपनी छात्रवृत्ति के पूरक स्वरूप कुछ प्राइवेट ट्यूशन भी पढ़ाये। बाह्य कठिनाइयाँ उनके आन्तरिक उद्देश्य में बाधक नहीं बन सकीं जो कि वेदान्त दर्शन की श्रेष्ठता को परिपुष्ट करने वाला था।

राधाकृष्णन में सोद्देश्यता की इस भावना का जन्म उनके विद्यार्थी-जीवन में ही हो गया था, जो कि ईसाई मिशनरी संस्थाओं में बीता। इन संस्थाओं में उन्हें बाइबिल तथा हिन्दू धर्मविषयक निन्दात्मक टिप्पणियों का सामना करना पड़ा। इन संस्थाओं में दी जा रही उच्चस्तरीय शिक्षा के प्रति राधाकृष्णन के हृदय में अत्यन्त सम्मान का भाव था, किन्तु कक्षा में किए जा रहे हिन्दू धर्म के अपवित्रीकरण

पर उन्हें गहरा दुख था। यहाँ तक कि हॉग जैसे शिक्षक भी—जिन्हें व्याख्यानों और लेखों में डॉ. गोपाल के अनुसार, 'विचार का एक सीमित अनिश्चय, एक योग्य संयम, किसी मामले के सभी पहलुओं के प्रति एक कर्तव्यनिष्ठ सम्मान तथा किसी वक्तव्य के लिए सभी विशेषताएँ सुनिश्चित करने की चिन्ता होती थी'—'*गीता*' की अपनी व्याख्याओं से वे युवा विद्यार्थियों को आहत करते थे। '*गीता*' के विषय में कहा जा रहा था कि यह जीवन की तापस (तपस्या) वृत्ति को अस्वीकार करती है। राधाकृष्णन जो स्वामी विवेकानन्द के महान् कार्य तथा वाक्पटुता से प्रभावित थे, इस पवित्र ग्रन्थ पर ऐसे निष्कर्ष स्वीकार नहीं कर सके।

उन्होंने भारी जिज्ञासु भाव से पढ़ना शुरू किया तथा अपने कम्प्यूटर—जैसे मस्तिष्क में ढेरों सूचनाएँ इकट्ठी कर लीं, जो कि बाद के वर्षों में एक अद्भुत स्मृतिकोष के रूप में प्रशंसित होने लगा। जैसे-जैसे राधाकृष्णन अपने अध्ययन में आगे बढ़ते गये, हिन्दू धर्म उन्हें एक आश्चर्यजनक सृष्टि जैसा प्रतीत होने लगा। अपने प्रतिनिधियों की पण्डिताई के कारण हिन्दू धर्म किनारे होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में समस्त भारतीय दर्शन के सामने शैक्षिक विनाश का ख़तरा था, इसका स्थान पश्चिमी दार्शनिक लेते जा रहे थे जो कि पाश्चात्य शिक्षा के साथ भारतीय मानस में घुस आये थे। राधाकृष्णन ने अन्तर्ज्ञातरूप से यह महसूस किया कि भारतीय दर्शन काँचघर या तापगृह का कोई पौधा नहीं है जिसे मनचाहा रूप दिया जा सके और न आधुनिक विश्व की सभी कृत्रिमताएँ उन्हें अन्यथा क़ायल कर सकती थीं, जैसा कि वे कहते हैं :

> "यहाँ तक कि वे बेचारे ग़रीब अशिक्षित ग्रामीण, जो कि अपनी पारिवारिक परम्पराओं तथा धार्मिक क्रियाकलापों से बँधे हैं, जीवन और साहसिक कार्य के प्रति ज़्यादा उत्सुक उन आरामतलब, उन्मुक्त बुद्धिजीवियों की अपेक्षा विश्व के आध्यात्मिक रहस्य से ज़्यादा परिचित हैं। वे उन प्राचीन तथ्यों और सत्यों, के बारे में जानते हैं, जिन पर मानव-मस्तिष्क आदिकाल से सोचता रहा है।"

इस तरह की सोच से उन्हें '*द एथिक्स ऑफ द वेदान्त : एण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल प्रीसपोजिशंस*' ('वेदान्त का आचार-शास्त्र एवं इसके तात्त्विक पूर्वधाराएँ') विषय पर एक शोध प्रबन्ध लिखने का प्रोत्साहन मिला। यह प्रबन्ध लेखन एम.ए. की परीक्षा के लिए एक आंशिक शर्त की पूर्ति करता था। सौभाग्य से उन्हें हॉग से प्रोत्साहन मिला, जिन्होंने राधाकृष्णन को समझदारी तथा श्रद्धा के साथ निर्देशित किया। वास्तव में, हॉग ने उन्हें एक आकर्षक प्रमाण-पत्र दिया, जिसमें उन्होंने 'वेदान्त के आचारशास्त्र' (द एथीक्स ऑफ द वेदान्त) का संदर्भ दिया : 'यह शोध प्रबन्ध

जिसे राधाकृष्णन ने इस डिग्री के लिए अपने अध्ययन के दूसरे साल में तैयार किया है, दार्शनिक समस्या के मुख्य पहलुओं की एक विलक्षण समझ प्रस्तुत करता है, एक जटिल पहलू को सरलतम ढंग से समझने की क्षमता रखता है जो कि अच्छी अंग्रेज़ी के औसत पाण्डित्य से बहुत अधिक बढ़कर है।'

इस शोध-प्रबन्ध में राधाकृष्णन ने निर्भीकतापूर्वक हिन्दू धर्म की कमज़ोरियों का उल्लेख किया तथा उन धार्मिक प्रथाओं को त्याग देने की वकालत की, जो अपना महत्त्व खो चुकी थीं तथा जीवन के बुद्धिसंगत मार्ग में विरोधाभासी प्रतीत होती थीं। किन्तु इसका उत्तर भौतिकवाद नहीं था। व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक भ्रातृत्व की वेदान्ती दृष्टि प्रतिबिम्बत होनी चाहिए, जिससे उसका जीवन सार्थक उद्देश्यपूर्ण तथा सुखी बन सके। राधाकृष्णन ने निश्चयपूर्वक कहा कि हिन्दू वेदान्त वर्तमान शताब्दी के लिए उपयुक्त दर्शन उपलब्ध करा सकता है, जो कि इस औद्योगिक युग के अमानवीकरण पर विजय पाने को संघर्ष कर रहा है। वेदान्ती आचार संहिता ने मनुष्यों को धरती पर एक आदर्श जीवन जीना सिखाया और उसी समय ज्ञानातीत सर्वोच्च सत्ता के साथ 'आत्म' की एकता महसूस करते हुए इस जीवन को आगे बढ़ाया। व्यावहारिकता तथा प्रार्थनामय जीवन को एक हितकर संघ से एकमेक किया जा सकता है। अद्वैतवादी एकता की प्राप्ति के लिए किसी (व्यक्ति) की आध्यात्मिक लालसा को नीतिपरक जीवन-मार्ग में आने की आवश्यकता नहीं है।

एम.ए. की पढ़ाई पूरी करने के बाद राधाकृष्णन उच्च शिक्षा के लिए विदेश जा सकते थे, किन्तु उन्हें पारिवारिक ज़रूरतों के कारण कुछ कमाना आवश्यक था। कठिन प्रयास के बाद उन्होंने मद्रास शैक्षिक सेवा में एक सामान्य पद प्राप्त करने की व्यवस्था कर ली। तदनुसार 1909 में उन्होंने मद्रास प्रेसीडेंसी कॉलेज के दर्शन विभाग में कार्य आरम्भ किया। 1910 में एल. टी. डिग्री के लिए उन्होंने सैदापेट के प्रशिक्षण कॉलेज में दाख़िला लिया। उस आयु में भी दार्शनिक अवधारणाओं के व्याख्याता के रूप में उनकी प्रतिभा एकदम स्पष्ट थी। उनके प्रोफ़ेसर ने अपने विद्यार्थियों के लिए राधाकृष्णन को 12 व्याख्यान देने के लिए राज़ी कर लिया। इस समय उन्होंने एक पुस्तिका *एसेंसल्स ऑफ़ साइकोलॉजी* (मनोविज्ञान के अनिवार्य तत्त्व) तैयार की, जो 1912 में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुई।

मद्रास प्रेसीडेंसी कॉलेज में राधाकृष्णन 1911 में लौटे। आज देखें तो यह एक शुभारम्भ था। आज मूलतः वे एक शिक्षक माने जाते हैं तथा कृतज्ञ राष्ट्र द्वारा उनका जन्मदिन शिक्षक-दिवस के रूप में मनाया जाता है। जैसा कि डॉ. बालकृष्ण जोशी ने कहा—"यहाँ वे शिक्षकों के बीच एक गुरु थे।" मनोविज्ञान, यूरोपीय चिन्तन तथा राजनीतिक दर्शन विषयक उनका पाठन इतना लोकप्रिय था कि अन्य कॉलेजों के विद्यार्थी भी उनकी कक्षाओं में उपस्थित होने लगे। अपने तथा अपने विद्यार्थियों

के बीच उन्होंने कोई दूरी नहीं रखी। चेहरों को पहचानने वाली उनकी याददाश्त उन सभी के लिए लाभदायक थी, जो उनके सम्पर्क में आते थे और वे महसूस करते थे कि राधाकृष्णन उन सभी का ध्यान रखते हैं। पाश्चात्य चिन्तन पर उन्होंने वहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं, साथ ही पारम्परिक पण्डितों की मदद से संस्कृत के गौरवग्रन्थों का भी व्यवस्थित अध्ययन शुरू किया। शोध पत्रों में लिखना तथा उन्हें *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ इथिक्स* तथा *द एशियाटिक रिव्यू* जैसे विदेशी जर्नलों में प्रकाशित करवाना भी शुरू कर दिया।

डॉ. सी. आर. रेड्डी जो कि एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, राधाकृष्णन को उनकी मद्रास शैक्षिक सेवा की स्थायी सेवावधि से बाहर—विश्वविद्यालय के वातावरण में लाने वाले प्रेरणा स्रोत रहे। 1918 में राधाकृष्णन मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर बन गये। उनकी सर्जनात्मक लेखनी पहले से ही विचारोत्तेजक कार्य करने लगी थी और फिर उनका पहला महत्त्वपूर्ण प्रकाशन आया *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर* दूसरा था *द रीन ऑफ़ रिलिजन इन कन्टेम्पोरेरी फ़िलॉसफ़ी* । ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने अपनी सर्जनात्मक लेखनी द्वारा एक उपन्यास *द क्राइम ऑफ़ लीला* की रचना की थी, जो कि अभी तक अप्रकाशित है। अंग्रेज़ी भाषा पर प्रभुत्व रखने के कारण राधाकृष्णन इन्डो-ऐंग्लियन (भारतीय-अंग्रेज़ी) साहित्य की दुनिया में एक उपन्यासकार के रूप में बड़ी धूमधाम से प्रविष्ट हो सकते थे, किन्तु उन्होंने स्पष्टतया इस विचार पर ध्यान नहीं दिया, हालाँकि एक बार उन्होंने उपन्यास 'शृंखला' की एक ऐसी योजना बनायी थी, जिससे वे भारतीय परम्परा पर अपने विचार व्यक्त कर सकें तथा इन्हें पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में अच्छी तरह आत्मसात् कर सकें। तथापि वे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारतीय साहित्य निर्माताओं में एक दार्शनिक व्याख्याकार बने। प्रोफ़ेसर जे. एच. मूरहेड ने उन्हें यह कहते हुए उपयुक्त मार्ग सुझाया कि 'राधाकृष्णन भारतीय दर्शन पर एक अच्छी पुस्तक तैयार करने में वेहतर भूमिका निभायेंगे।' युवा प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन अब अपना सही काम पा गये थे।

सन् 1920 में जव कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानसिक तथा नैतिक विज्ञान के प्रोफ़ेसर किंग जार्ज का पद रिक्त हुआ तो वाइस-चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने उक्त पद के लिए राधाकृष्णन को आमन्त्रित किया। इस पद पर उनकी नियुक्ति को भारी प्रशंसा मिली, साथ ही एक हज़ार रुपये प्रतिमाह वेतनमान ने उन्हें वित्तीय चिन्ताओं से भी मुक्त कर दिया। मैसूर यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी राधाकृष्णन का जाना सुनकर बहुत उदास हुए और उन्हें भावभीनी विदाई दी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में राधाकृष्णन ने अपना कार्य सीनेट हॉल में दिये गये एक सार्वजनिक व्याख्यान से शुरू किया। शीघ्र ही वे अपने कार्य में व्यस्त

हो गये। एक जिज्ञासु पाठक तथा अथक व्याख्याता के साथ-साथ राधाकृष्णन एक बड़े लेखक भी थे। कलकत्ता में ही उन्होंने भारतीय दर्शन के दो विशाल ग्रन्थों की योजना बनायी तथा निष्पादन किया। वे एक मिशन को समर्पित प्रोफ़ेसर थे और विश्व को यह दिखाना चाहते थे कि मानवता के समक्ष सार्वभौम एकता प्राप्त करने का सर्वोत्तम विकल्प वेदान्तवादी हिन्दू धर्म है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म को धार्मिक रूढ़िवाद के एक मन्त्र के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। इन दो ग्रन्थों ने राधाकृष्णन के लक्ष्य को अच्छी तरह प्राप्त किया। 1936 में (द्वितीय ग्रन्थ-प्रकाशन के दस वर्ष के भीतर) उन्होंने विनम्र गर्व के साथ कहा :

> "मैं जानता हूँ, इस देश में दर्शन के गहन अध्येता तथा संस्कृत के महानतर पण्डित हैं। मेरी महत्त्वाकांक्षा केवल इतिहास लेखन की नहीं है बल्कि मस्तिष्कीय गति की व्याख्या तथा उद्घाटन है और मानव-प्रकृति के दुर्गम्य तल में भारतीय स्रोतों को खोलना है। एक समय था, जब भारतीय दर्शन को अनोखा अपरिचित, अप्रचलित तथा विश्व के आध्यात्मिक जागरण की भूमिका में अक्षम माना जाता था। यह धारणा अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।"

कलकत्ता में राधाकृष्णन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बहुत निकट आ गये, हालाँकि रवीन्द्रनाथ के बारे में उन्होंने पहले ही एक पुस्तक लिखी थी। उन्होंने भारतीय दार्शनिक कांग्रेस की स्थापना की तथा कलकत्ता में आयोजित इसके प्रथम अधिवेशन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को सभापति पद पर आसीन करके उन्हें अत्यन्त सन्तुष्टि मिली। और जब उन्होंने अपनी पुस्तक *फिलॉसॉफ़ी ऑफ टैगोर* की प्रस्तावना लिखने के लिए रवीन्द्रनाथ से आग्रह किया तो कवि ने हल्के-से कृति को प्रस्तुत किया :

> "अपने दर्शन के विषय में मैं मि. जोर्डन की तरह हूँ जो कि अपने जीवन में बिना जाने ही इसे नीरस कह रहे थे।... यह बताना निरर्थक ही है कि मेरी रचनाएँ अपनी घुली-मिली धाराओं में दार्शनिक चिन्तन रूपी शुद्ध सोने को लेकर चलती हैं और (चूँकि) रेत को छानकर तथा मूल्यवान कणों को गलाकर ही सोने की ईंटें बनायी जा सकती हैं, इसलिए यह पाठकों पर है कि वे इसे खोज निकालें। लेकिन मेरी ओर से जिज्ञासुओं को किसी प्रकार का आश्वासन या अनुभूति की गारन्टी देना एक जोखिम भरा कार्य है।"

तथापि वह दिन दूर नहीं था, जब रवीन्द्रनाथ व्यक्ति-धर्म के सार्वभौम स्वीकृत दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

1927 में राधाकृष्णन लन्दन गये, जहाँ उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की कांग्रेस में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया। ऑक्सफ़ोर्ड में मैनचेस्टर

कॉलेज के प्रिंसिपल के निमन्त्रण पर उन्होंने कई प्रभावशाली व्याख्यान दिये, जिनमें उन्होंने हिन्दू धर्म को स्पष्ट किया और उसे मायावाद समझी जाने वाली भ्रान्तियों से मुक्ति दिलाई। मायावाद भाग्यवाद का एक दुर्भाग्यपूर्ण सिद्धान्त उतना ही पुरातन था जितना कि शास्त्र बताते हैं, परन्तु वह वैज्ञानिक रूप से गतिशील भी था :

> "वेदों के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण आलोचना के साथ-साथ विश्वास संयमित है, ये विश्वास सम्भव है हमारे भी काम आयें, क्योंकि आस्थाएँ और रूप हमारे पूर्वजों के सहायक रहे हैं। अतीत काल के प्रमाण उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी वर्तमान युग में साक्ष्य की जाँच तथा विश्लेषण करने के आलोचनात्मक अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। जैसे कि पहले से मानव आत्माओं में 'ईश्वर' पद की प्रतिध्वनियाँ अमूल्य हैं, उनके प्रति हमारा सम्मान इस सत्य की मान्यता से संयमित होना चाहिए कि ईश्वर ने अपने प्रेम और प्रज्ञा का रहस्योद्घाटन करना कभी समाप्त नहीं किया। इसके अतिरिक्त धार्मिक अनुभव का हमारा विवेचन विज्ञान के निष्कर्षों के समनुरूप होना चाहिए। ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ धर्मशास्त्र विकसित होता है। परम्परा के मात्र उन्हीं हिस्सों को संवेदना के साक्ष्य से श्रेष्ठ माना जाना चाहिए जो तार्किक रूप से संगत हो न कि समस्त परम्परा को।"

इस दृष्टिकोण ने प्रबुद्ध श्रोता को निश्चित रूप से प्रभावित किया। उनके व्याख्यान *द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़* शीर्षक से प्रकाशित हुए तथा बाद में इसके कई संस्करण छपे और इनका अनेक पश्चिमी व्यक्तियों जैसे, एल. पी. जैक्स तथा जे. बी. एस. हाल्डेन के जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

विश्वविद्यालयी कांग्रेस के समापन के बाद राधाकृष्णन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा की। वहाँ उन्होंने शिकागो में 'हास्केल व्याख्यान' दिये तथा हार्वर्ड में दर्शनशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लिया। यहाँ उन्होंने 'सभ्यता के इतिहास में दर्शन की भूमिका' विषय पर वक्तव्य दिया। सर्वाधिक जटिल दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट करते हुए उन्होंने व्यंग्य-विनोद के समुचित अंदाज़ में संस्कृत मुहावरों से भरी अंग्रेज़ी से अपने श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। काले सागर के पार राधाकृष्णन की प्रथम यात्रा अक्षरशः एक विजयी यात्रा थी। राधाकृष्णन जब भारत लौटे तो स्वयं को उन्होंने यूनिवर्सिटी की राजनीति के पाश में जकड़ा पाया। वाइस-चांसलर जदुनाथ सरकार शिक्षकों से अप्रसन्न थे। राधाकृष्णन शैक्षिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप की निर्भीक आलोचना करते थे। वे जिस अनुशासित ढंग से पढ़ाते थे, उसी ढंग से स्नातकोत्तर परिषद के अध्यक्ष के रूप में प्रशासनिक कार्य भी करते थे। वे विश्वविद्यालय के सिंडिकेट के रूप में चुने गए थे तथा विश्वविद्यालयी संगठन

समिति के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य थे।

लेकिन पाण्डित्य राधाकृष्णन में प्रमुख स्थान पा चुका था और वे हाशिये पर रह ही नहीं सकते थे, क्योंकि 'भारतीय दर्शन' (इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी) पर उनकी दो पुस्तकों ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की थी। फिर भी सर्वोच्च सफलता अभी शेष थी। राधाकृष्णन की सर्वोत्तम कृतियों में से सब कुछ अब प्रकट होने लगीं : *द रिलिजन वी नीड* (धर्म, जिसकी हमें आवश्यकता है) *कल्कि आर—द फ़्यूचर ऑफ़ सिविलाइजेशन* (कलियुग की भावी सभ्यता का विकास) तथा *हार्ट ऑफ़ हिन्दुस्तान* (हिन्दुस्तान का हृदय) इन विषयों पर उन्होंने मैनचेस्टर तथा लंदन विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों ने बड़ी संख्या में श्रोताओं को आकर्षित किया तथा *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ़* (एक आदर्श जीवन-दृष्टि) शीर्षक से प्रकाशित हुए। इस पुस्तक के कई संस्करण निकले और डॉ. गोपाल के अनुसार 'तीस के दशक में राधाकृष्णन अमेरिका तथा यूरोप में प्रायः आराधना की मूर्ति बन गये।'

डॉ. सी. आर. रेड्डी ने, जिन्होंने राधाकृष्णन को मैसूर विश्वविद्यालय में लाने में प्रेरक भूमिका निभाई थी, राधाकृष्णन को 1927 में आन्ध्र यूनिवर्सिटी में प्रथम दीक्षान्त भाषण के लिए आमन्त्रित किया। चार वर्ष बाद राधाकृष्णन वाल्टेयर में आन्ध्र विश्वविद्यालय के उप कुलपति बने। अब वे विश्वविद्यालयी शिक्षा समस्याओं में गहरी रुचि रखने लगे थे और यह एक अच्छा अवसर था कि वे अपने आदर्शों को व्यवहार में लायें। प्रशंसनीय सरलता के साथ उन्होंने एक उत्कृष्ट संस्था के निर्माण के कठिन कार्य को पूरा किया। वाल्टेयर के रमणीय गाँव ने आश्रम सदृश वातावरण प्रस्तुत किया। वहाँ उनका पहला कार्य ऑनर्स तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों को निर्धारित करना था। दूसरा कार्य संस्था को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त कराना था। राधाकृष्णन ने विज्ञान और कला संकायों के कुछ उत्कृष्ट अध्यापकों को इकट्ठा करना शुरू किया तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी का पाठ्यक्रम तैयार करने में मदद के लिए सी. वी. रमन तथा एम. विश्वेश्वरैया जैसे प्रख्यात व्यक्तियों के साथ जोड़ दिया। अग्रिम राशि मंजूर करके उन्होंने शोध को प्रोत्साहित किया और आवासीय विश्वविद्यालय बनाने के लिए ऑक्सफ़ोर्ड-प्रारूप का इस्तेमाल किया तथा यूनिवर्सिटी-प्रवेश द्वार के बाहर स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए एक रोज़गार ब्यूरो की स्थापना भी की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को आमन्त्रित करते हुए उन्होंने लिखा कि वे आयें, परिसर में रहें तथा कुछ विशिष्ट व्याख्यान दें। उन्होंने पुस्तकालय को समृद्ध किया। राधाकृष्णन द्वारा स्थापित सशक्त आधारों पर विश्वविद्यालय की अनेक शाखाएँ आज भी टिकी हुई हैं।

1936 में राधाकृष्णन तीन वर्ष के लिए इंग्लैण्ड की ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी

में पढ़ाने गये। पद था समालोचक प्रोफ़ेसर का। तुलनात्मक धर्म पर दिये गये उनके सूक्ष्मदृष्टि व्याख्यानों के लिए शिक्षक, विद्यार्थी तथा प्रबुद्ध व्यक्ति उन्हें बहुत प्यार करते थे। स्वाभाविक था कि एक वक्ता के रूप में उनकी बेहद माँग थी और भाषण के लिए वे चर्च, प्रार्थनागृहों तथा गिरिजाघरों में भी बुलाये गये। 1937 में ब्रिटिश अकादेमी में उन्होंने 'बुद्ध पर प्रमुख' विचार (मास्टर माइंड) व्याख्यान दिया। उनके भाषणों के लिए इंग्लैण्ड में आश्चर्यजनक उत्साह था। उनकी इस प्रसिद्धि को सुनकर यहाँ भारतीयों ने भी गर्व महसूस किया। महात्मा गाँधी ने जो कि उस समय एक पराधीन राष्ट्र का नेतृत्व कर रहे थे, राधाकृष्णन को लिखा :

> "मेरा अनुभव बार-बार मुझे यह विश्वास दिलाता है कि हमने अपने पूर्वजों द्वारा छोड़ी गयी विरासत के प्रति न्याय नहीं किया है। हमलोग अपने तथा विश्व के लिए इसके मूल्य को समझने में बहुत सुस्त हो गये हैं। मुझे खुशी है कि तुम प्राचीन ज्ञान को पश्चिम के लिए परिभाषित करने की सफलतापूर्वक कोशिश कर रहे हो।"

राधाकृष्णन की श्रद्धा अब महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू के प्रति गहराने लगी थी। महत्त्वपूर्ण भाषणों में वे इन दोनों को उद्धृत करना नहीं भूलते थे। इसी भांति विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भी वे देशभक्तिपूर्ण भावनाओं को नहीं छिपाते थे। वे भारत की राजनीतिक स्वाधीनता चाहते थे, परन्तु सशस्त्र दमन के पूर्णतः विरोधी थे। भारत और इंग्लैण्ड में एक उच्चस्तरीय सम्मानित विद्वान की प्रशंसनीय हैसियत से राधाकृष्णन ने राज्य सचिव पर दबाव डालने का प्रयास किया कि वह गाँधी को सुने। 1939 में वे दक्षिण अफ्रीका गये तथा भारत के प्राचीन विवेक का सन्देश प्रसारित किया और वहाँ संघर्षरत भारतीय प्रवासियों का मनोबल बढ़ाया। उनके तुलनात्मक दृष्टिकोण ने हिन्दू तथा ईसाई धर्म में इतना सशक्त आकर्षण पैदा कर दिया कि एक उत्साही प्रशंसक ने तो प्रशिक्षित प्रोफ़ेसर से एक नये विश्वधर्म का उपक्रम करवाना चाहा।

विश्व युद्ध आरम्भ होने के कारण वे वापस भारत चले आये। उन्हें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त किया गया। प्रारम्भ में वे बिलकुल उत्सुक नहीं थे, किन्तु मालवीय तथा गाँधी के आग्रह पर उन्होंने इस कार्य को सम्भाला। चिन्तन के क्षेत्र को व्यापक बनाने की अपनी जन्मजात प्रवृत्ति के कारण उन्होंने संस्था के नाम में जुड़े 'हिन्दू' शब्द को एक विस्तृत परिभाषा दी। विश्वविद्यालय में उन्होंने एक इस्लामिक अध्ययन केन्द्र स्थापित किया तथा महिलाओं के लिए वेदों का अध्ययन सम्भव बनाया।

मुख्य संस्थाओं के प्रमुखों के लिए वह कोई आसान नहीं था, जोकि स्वाधीनता

के लिए सशक्त राजनीतिक आन्दोलन तथा शासक वर्ग की कठोर शक्ति संरचना के बीच विरोधाभासी खिंचाव महसूस कर रहे थे। राधाकृष्णन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं के प्रति अपनी देशभक्तिपूर्ण भावनाओं तथा श्रद्धा को कभी गुप्त नहीं रखा, परन्तु एक शैक्षिक प्रमुख के रूप में उन्हें विद्यार्थियों की सुरक्षा हेतु सरकारी रोष से भी अथक संघर्ष करना था। समय पाकर राधाकृष्णन शानदार ढंग से उभरे तथा उनकी महत्ता ने एक निश्चित प्रभाव डाला। एक मौक़े पर माइकेल नीदरसोल ने जिसे संयुक्त प्रान्त के अशान्त क्षेत्र का भार दिया गया था, गवर्नर सर मूरिस हेलट की इस सलाह को खुले आम अस्वीकार दिया कि वह राधाकृष्णन से सख़्ती से पेश आये, और उसने चिल्लाकर कहा : "महामहिम, आप प्रान्त के गवर्नर हो सकते हैं (और हैं) पर क्या आप ब्रिटिश अकादेमी तथा सभी की आत्माओं के फ़ेलो (साथी) बनने की आशा रख सकते हैं?"

राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय में उत्कृष्ट प्राध्यापकों का चयन किया तथा विश्वविद्यालय प्रशासन की प्रबन्ध-व्यवस्था सुनिश्चित करके बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का शैक्षिक स्तर ऊँचा उठाया। उन्होंने स्वयं को व्याख्यानों में भी व्यस्त रखा और समस्त भारत में अनेक अध्यक्षीय तथा दीक्षान्त भाषण दिये। इससे श्रोताओं में एक उच्च तथा अधिक आदर्शवादी चेतना का विकास हुआ।

भारत के स्वाधीन होने के बाद जब अधिकांश लोग विश्राम कर रहे थे, राधाकृष्णन ने सहर्ष एक चुनौतीपूर्ण कार्य स्वीकार किया। विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जाकिर हुसैन, मेघनाद साहा तथा लक्ष्मण स्वामी मुदलियार सहित दस शैक्षिक विद्वानों की एक टोली का नेतृत्व किया, जिसने भारत में 25 विश्वविद्यालयों का दौरा किया और एक रिपोर्ट तैयार की, जो आज भी आधुनिक भारतीय शिक्षा के स्तम्भों में से एक है। इसमें इन उच्च शैक्षिक संस्थाओ की समस्याओं का विश्लेषण तथा शैक्षिक स्तर को सुधारने का प्रस्ताव बेजोड़ और श्रेष्ठ था। यह बात अलग है कि उस पर उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही नहीं की गयी और अधिकांश सुझावों पर आज भी धूल जमी हुई है, अर्थात् उन्हें भुला दिया गया है।

1949 में राधाकृष्णन सोवियत रूस में भारत के राजदूत बनाये गये। शीत युद्ध के कुहासे से निकलने के लिए दार्शनिक-राजनेता का यह चयन जवाहरलाल नेहरू की एक बेहतर पसन्द का नतीज़ा था। स्टालिन भी इससे अप्रसन्न नहीं था। उसने अपने वास्तविक उद्देश्य—विश्वशान्ति को 'तनावशैथिल्य' के सहारे पाने में मदद के लिए राधाकृष्णन को सम्मानपूर्वक रखा। भारतीय राजदूत से अपनी पहली भेंट के बाद स्टालिन ने टिप्पणी की : "यह व्यक्ति तरल हृदय से बोलता है न कि अन्य सामान्य राजदूतों की तरह।' "यद्यपि एक राजदूत के रूप में राधाकृष्णन के पास भारी ज़िम्मेदारियाँ थीं (कोरियाई युद्ध, दुर्भिक्ष से उबरने के लिए भारत को

रूसी अनाज की आपूर्ति), परन्तु उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ाना और विद्वत्तापूर्ण शैली में लिखना लगातार जारी रखा।" जैसा कि आर. वेंकटरमण कहते हैं, 'क्रेमलिन हो या काशी, राधाकृष्णन की विद्वत्ता का दीप, समान रूप से अनवरत जलता रहा।'

1952 में राधाकृष्णन भारत के उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने महान् प्रतिष्ठा सहित राज्यसभा का सभापतित्व ग्रहण किया और उन्हें सभी सदस्यों से सहज सहयोग मिला। 1954 में उन्हें 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया। 1962 में वे भारत के राष्ट्रपति बने।

इन्हीं के कार्यकाल में भारत को चीनी आक्रमण की चिन्गारी को झेलना पड़ा। तथापि, राधाकृष्णन की उपस्थिति तथा शान्ति और साहस भरे उनके शब्दों ने भारतीय मनोबल को उस गहन तथा भयानक अंधकार से ऊपर उठाया और यही राष्ट्र का विवेकपूर्ण उद्देश्य था। उन्होंने कहा :

> "कठिन भौगोलिक क्षेत्र तथा चीनियों की ज़्यादा संख्या के कारण सैनिक दृष्टि से हम प्रतिकूल स्थिति में थे। स्थिति की वास्तविकता के प्रति उन्होंने हमारी आँखें खोल दी हैं। अब हम अपनी कमियों को जानते हैं और वर्तमान की आवश्यकताओं तथा भविष्य की माँगों के बारे में सचेत हैं। देश ने एक नया उद्देश्य, एक नई आकांक्षा विकसित कर ली है।"

राधाकृष्णन को कुछ और गहरे सदमों को भी झेलना था। 1964 में उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र, जवाहरलाल नेहरू को खो दिया। इस अपूरणीय क्षति के तुरन्त बाद उनके मुँह से निकले वाक्यों से उनकी गहन मनोव्यथा का अनुमान लगाया जा सकता है :

> "अपनी विशिष्ट, सशक्त और अनुनादी वाणी के द्वारा, जिसे हम फिर कभी नहीं सुनेंगे, उन्होंने भारतीयों की एक समग्र पीढ़ी सृजित की, उसे साँचे में ढाला तथा प्रेरणा दी। इनमें (भारतीयों में) उन्होंने उन प्रथम सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा जगायी, जिन्हें वे बहुत पसन्द करते थे। केवल महान आदर्शों को रखना ही काफ़ी नहीं है, हमें उनकी उपलब्धि के लिए कार्य करना है। समय ही स्थिति का सार है, और नेहरू समय की पवित्रता का बहुत आदर करते थे। समय की निर्दय माँगें प्रतिवाद स्वीकार नहीं करतीं और इसीलिए वह महान नेता जाता रहा।"

चीनी आक्रमण के दौरान राधाकृष्णन ने यदि भारतीयों की निराशा दूर कर उनकी आत्मा को मज़बूत किया था, तो 1965 ने राधाकृष्णन के दार्शनिक नेतृत्व के समक्ष एक और चुनौती खड़ी कर दी। पाकिस्तानी युद्ध हमारे मस्तिष्क को

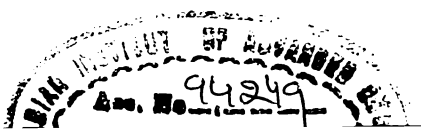

विजय-सुख की ओर मोड़ सकता था, परन्तु राधाकृष्णन के शब्दों ने विजय को सही परिप्रेक्ष्य में रखा :

> "पाकिस्तान ने सोचा था कि भारत वहुत कमज़ोर है, अथवा वहुत भयभीत है, अथवा लड़ने के लिए अभिमान से भरा है। यद्यपि भारत ने शस्त्रागार के लिए सहज अनिच्छुक रहते हुए ही आक्रमण के समय अपनी सुरक्षा महसूस की। पाकिस्तान ने यह भी सोचा था कि देश में साम्प्रदायिक अशांति फैल जायेगी फलस्वरूप वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा। उसके ग़लत अनुमानों को एक कठोर आघात की तरह उस तक पहुँचना ही चाहिए था।"

इससे पूर्व कि राष्ट्र नेहरू की क्षति और लगातार युद्ध के सदमों से उवर पाता, लालवहादुर शास्त्री का निधन हो गया। लेकिन राधाकृष्णन की उपस्थिति सदा की तरह ढाढ़स देने वाली थी। भारतीय लोकतंत्र एक पल के लिए भी नहीं डगमगाया। दुनिया का कोई भी अन्य राष्ट्र इस वात के लिए गौरवान्वित नहीं था कि उसके राजनीतिक प्रमुख के रूप में दर्शनशास्त्र की एक अन्तर्राष्ट्रीय हस्ती विराजमान है। भारतीय लोकतन्त्र के लिए ये यशस्वी दिन थे।

राधाकृष्णन ने निश्चिन्त भाव से मद्रास में आराम करने के लिए अवकाश ग्रहण किया तथा प्रख्यात इकाइयों—जैसे साहित्य अकादेमी, पैन (PEN) अखिल भारतीय केन्द्र को लगातार बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करते रहे। 1968 में उन्हें अकादेमी की फ़ेलोशिप से विभूषित किया गया तथा 1975 में धर्म-दर्शन की प्रगति में योगदान के लिए टेम्पलटन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। लेकिन इसी वर्ष 17 अप्रैल, 1975 को उनका निधन हो गया।

3

जीवनी-लेखक

सारतः धर्म और दर्शन के व्याख्याकार होते हुए भी भारतीय-जीवनी लेखन के क्षेत्र में राधाकृष्णन का सुनिश्चित स्थान है। पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन को परिभाषित करने के लिए, जिसके विषय में पश्चिम को बहुत कुछ अज्ञात था अथवा इसके विषय में उसकी जानकारी ग़लत थी, राधाकृष्णन यह जानते थे कि सर्वप्रथम उन्हें अपने विषय को आकर्षक बनाना होगा। भारत के समृद्ध पौराणिक इतिहास का ज्ञान तथा महान समसामयिक विद्वानों के सान्निध्य में रहने के कारण राधाकृष्णन को कोई समस्या नहीं थी। अतः, यद्यपि हिन्दू आचारशास्त्र तथा वेदान्त के सिद्धान्त के कारण वे प्रथमतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओर आकर्षित हुए तथापि इस कवि पर उनकी पुस्तक उससे कहीं अधिक महत्त्व रखती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दर्शन (*द फ़िलॉसाफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर*) राधाकृष्णन की पहली पुस्तक है। ठाकुर उस समय एक आदर्श साहित्यकार के रूप में अपनी प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा पर थे और अब प्रोफ़ेसर ने कवि को दार्शनिक प्रबन्ध की सीमा में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। चारों ओर मौजूद आलोचकों से यह संकेत पाकर कि रवीन्द्रनाथ ईसाइयत से अनुप्राणित रहे हैं, उन्हें अच्छा नहीं लगता था। राधाकृष्णन की पुस्तक ने सिद्ध कर दिया कि रवीन्द्रनाथ की दार्शनिक परम्परा वेदों-उपनिषदों से आती है। वास्तव में ठाकुर का आगमन भावी मानवता के लिए ईश्वरीय सहमति की मुहर है : वह "सार्वभौम व्यक्तित्वों के कुछ उन प्रतिनिधियों में से एक थे जिनसे विश्व का भविष्य जुड़ा है।" आत्मविश्वास से किया गया यह दावा समसामयिक भारतीयों को सर्वोच्च पीठिका पर बैठाते हुए आज भी अटल है। यह केवल शुष्क दर्शन नहीं था, बल्कि आत्मोत्तेजक व्याख्यान था और पश्चिम ने इसे पसन्द किया। निस्सन्देह यह हमारे राष्ट्र का एक प्रतीकात्मक सम्मान था, जब जून 1938 में राधाकृष्णन को ब्रिटिश अकादमी में व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया। राधाकृष्णन ने इसके लिए एक उद्दीप्त विषय का चुनाव किया। यह था—गौतम बुद्ध। लोगों ने अपेक्षा की होगी कि राधाकृष्णन हालाँकि एक हिन्दू हैं, जो कुछ विदेशी मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म की निन्दा करने के कारण अपनी परम्परागत

ऊँचाइयों (वे-स्प्रिंग्स) की ओर मुड़ गये हैं, इसलिए संस्कृत के एक विद्यार्थी के रूप में वह शंकर अथवा रामानुज को व्याख्यान के लिए चुनेंगे। परन्तु उन्होंने गौतम बुद्ध को चुना। वैदिक धर्म के एक विद्रोही को, जिसने पाली में प्रवचन दिये और जिसका धर्म भारत में प्रायः समाप्त हो गया है।

पश्चिमी श्रोताओं को सम्मोहित करने के लिए 1879 में सर एडविन अर्नाल्ड ने द *लाइट ऑफ़ एशिया* के माध्यम से जो कमाल दिखाया था, वही अब राधाकृष्णन ने कर दिखाया। यह वही 'जीवन' था जो पश्चिम का ध्यान खींचे हुए था और जिसकी तुलना पश्चिम क्राइस्ट (ईसा मसीह) के जीवन से कर रहा था। पश्चिमी लोगों के लिए, जो कि रहस्यवादी पूर्व से आशंकित रहते थे, यही एक था जिसे वे समझ सके। जैसा कि यूसिबो एल. रोड्रिग्स कहते हैं : "बुद्ध द्वारा प्रस्तावित समाधान अलौकिक की बजाय व्यावहारिक था और अपने समय पर उसने तात्कालिक प्रभाव डाला था।"

इसके बाद पश्चिम में थियोसोफ़िकल सोसाइटी, महाबोधि सोसायटी, शिकागो धर्म संसद, लकाडियो हार्न तथा आनन्द के. कुमारस्वामी के प्रयासों से 50 वर्षों तक लगातार बुद्ध प्रभाव का स्पष्ट प्रस्फुटन हुआ। महात्मा बुद्ध को भारतीय सनातन धर्म के एक मुख्य आधार के रूप में स्पष्ट करने का समय अब आ गया था। जैसा कि राधाकृष्णन के पुत्र तथा जीवनी-लेखक सर्वपल्ली गोपाल कहते हैं :

> "राधाकृष्णन यह घोषित करने के लिए अब एक प्रामाणिक मंच का प्रयोग कर सकते थे कि बुद्ध हिन्दू मत के एक सुधारक थे, पथ प्रवर्तक नहीं, और मूलभूत समस्याओं पर उनकी ख़ामोशी से न तो कृत्रिमतावाद (एगोनॉ-स्टिसिज़्म) झलकता था और न ही निरीश्वरवाद, अपितु यह तो निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) को व्यक्त करने के प्रति एक अस्वीकृति थी, जिसे वह जानते थे, क्योंकि जीवन के नीतिशास्त्रीय मूल्यों के लिए यह प्रत्यक्षतः प्रासंगिक नहीं था।"

व्याख्यान की कोई पूर्व तैयारी नहीं थी, बल्कि वह एक तत्काल प्रस्तुति थी। राधाकृष्णन ने इसमें लिखित टिप्पणियों का भी सहारा नहीं लिया। उन्होंने अपने श्रोताओं को विद्वत्ता से नियन्त्रित किया। वहाँ जो दुर्बोध तात्त्विक चिन्तन होना था, उसे भी पृष्ठभूमि में ही रखा गया। उस हाल में जो दृश्य उपस्थित हुआ वह कुछ ऐसा था मानो एक राजकुमार रंक बन गया हो, एक विद्रोही असीम शक्ति-सम्पन्न संन्यासी हो गया हो, एक उल्लंघनकारी मानवता की रक्षा के लिए अपार कष्ट सह गया हो, सचमुच ईसा मसीह की तरह और जो मानो पाँच सौ वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में था!

राधाकृष्णन सीधे अपने विषय पर पहुँचते हैं और जब वे प्रारम्भ से ही एक

उद्देश्य लेकर बोलने लगते हैं तो इस बात के औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि एक हिन्दू दार्शनिक ने बुद्ध का चयन कैसे किया :

> "गौतम बुद्ध में हम पूर्व का एक आचार्य मस्तिष्क पाते हैं। जहाँ तक मानव जाति के जीवन और विचार पर उनके प्रभाव तथा एक धार्मिक परम्परा के संस्थापक के रूप में सभी के लिए पूज्य बनने का सम्बन्ध है वह किसी भी तरह किसी दूसरे से कम नहीं है। वे विश्वचिन्तन के इतिहास से जुड़ते हैं, सभी सुसंस्कृत मनुष्यों की सामान्य वंशगति से जुड़ते हैं, बौद्धिक एकता, नैतिक गम्भीरता तथा आध्यात्मिक सूक्ष्मदृष्टि द्वारा विचार करने पर गौतम बुद्ध निश्चय ही इतिहास की महानतम विभूतियों में से एक हैं।"

उल्लेखनीय है कि राधाकृष्णन जैसा प्रबुद्ध व्याख्याता 'इतिहास' के महानतम व्यक्तियों में से एक—बुद्ध—का उल्लेख करता है, दन्तकथा के किसी चरित्र का नहीं। वह जानता है कि उसके श्रोता समय-बद्ध तथ्यों में रूचि रखते हैं और इस शब्द का चुनाव श्रोताओं को यह विश्वास दिलाता है कि वे निश्चय ही कुछ सुनना चाहते हैं। अतः बुद्ध का जीवन एक विस्तृत व्यवहार के सन्दर्भ में लिया जाता है तथा प्रभावशाली गद्य में हम एक सोद्देश्य निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। दृढ़ किन्तु विनम्र तरीक़े से संक्षिप्त वर्णन भी चमत्कारिक है। यहाँ तक कि 'मार' का निर्णायक प्रहार भी एक मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में बताया जाता है। जब ऐसी दन्तकथाएँ भी कथा को गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण हैं, तो राधाकृष्णन भी पश्चिमी समानान्तर में लौट आते हैं और तुरन्त एक तुलनात्मक स्पष्टीकरण देते हैं। यह स्पष्टीकरण है ब्रह्म की बुद्ध को सलाह :

> "सम्भवतः इसका तात्पर्य है, जैसा कि वह अपने आप में वार्तालाप कर रहा था कि उसे क्या करना चाहिए, उसे एक चेतावनी मिली बहुत कुछ वैसी जैसी सुकरात के नरकदूत द्वारा सुकरात को मिली थी—जीवन से वापसी के विरुद्ध।"

एक खुला तथा उदार समाज इसके अलावा और क्या अपेक्षा कर सकता है कि राधाकृष्णन के अनुसार, बुद्ध की शिक्षाओं में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो व्यक्ति विशेष के लिए हो :

> "अपने अनेक भाषणों में उन्होंने कमोवेश सुकरात की पद्धति का तर्क देते हुए अपने सम्भाषणों का प्रतिनिधित्व किया, और उन्हें (भाषणों—तर्कों को) मनवाते हुए अचेतन रूप से उन स्थितियों से भिन्न (स्थितियों) को स्वीकार करवाया, जहाँ से वे शुरू हुए थे। वे अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता

का भार अस्वीकार करने की अनुमति नहीं देते थे। उन अनुयायियों को, एक सत्ता को स्वीकार करके सत्य की खोज का त्याग नहीं करना चाहिए उन्हें स्वतन्त्र व्यक्ति होना चाहिए, जिससे वे स्वयं के लिए एक प्रकाश तथा सहायता पाने योग्य वन सके।"

विचारशील श्रोता राधाकृष्णन की प्रेरणाओं से तटस्थ नहीं रह सकते थे। उस समय जब मिशनरीज़ गतिविधियाँ सारे भारत में फैली हुई थीं, राधाकृष्णन ने विचारोत्तेजक तथ्य प्रस्तुत किया :

"वाध्यतावश होने वाले परिवर्तन से वुद्ध अनभिज्ञ थे। आस्था नहीं वल्कि व्यवहार उनकी साधना पद्धति का आधार था। परिवर्तन को उन्होंने एक स्वभाव तथा आदत वनाने की कामना की। हम अपनी मूर्खतापूर्ण इच्छाओं के कारण दुखी हैं। स्वयं को प्रसन्न करने के लिए आवश्यक है एक नया हृदय पैदा करना तथा नयी आँखों से देखना। यदि हम बुरे विचारों का दमन तथा अच्छे विचारों का सृजन करते हैं, तो एक अप्रसन्न दिमाग़ को प्रसन्न वनाया जा सकता है। वुद्ध पन्थ-परिवर्तन की वात नहीं कहते, वे ब्राह्मण की पवित्र अग्नि के साथ वैठते हैं, तथा उसकी पूजा की निन्दा किये विना उसके विचारों पर वात करते हैं।"

राधाकृष्णन उवाऊ जीवनी-लेख के विस्तार में जाना पसन्द नहीं करते जिससे उसे विदेशी रंग दिया जा सके। वे अपने विचारों से एकता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए तुलनात्मक धर्म की रुचि रखते हैं :

"वुद्ध का पूर्णरूपेण अन्त सुकरात और जीसस के शहीदी अन्त से स्पष्टतः अलग है। इन तीनों ने अलग-अलग मात्राओं में अपने-अपने समय की रूढ़ियों को नष्ट किया। तथ्यात्मक रूप में, वुद्ध वैदिक रूढ़िवाद तथा आनुष्ठानिकतावाद (सेरेमोनियलिज़्म) के कहीं अधिक प्रखर विरोधी थे, सुकरात ने एथेन्स के राज्य-धर्म तथा जीसस ने यहूदीवाद का उतना प्रखर विरोध नहीं किया। और भी, वे अस्सी (उस सदी के) तक जीवित रहे, बड़ी संख्या में अनुयायी बनाये तथा अपने जीवनकाल में ही एक धार्मिक व्यवस्था की स्थापना की। धर्म का भारतीय स्वभाव संभवतः अपरम्परागत व्यवहार में भिन्नता के लिए ज़िम्मेदार है।"

महात्मा गाँधी : उनके जीवन एवं कार्य पर चिन्तन (महात्मा गाँधी : रिफ़्लेक्शन्स ऑन हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क) राधाकृष्णन की एक अन्य कृति है जो 1939 में प्रकाशित हुई। जैसा कि पुस्तक का उप-शीर्षक संकेत करता है, यह एक महान

राजनीतिक व्यक्तित्व को केवल श्रद्धाञ्जलि ही नहीं है यह बताने के लिए भी है कि गाँधीजी की महानता एक संघर्षशील हीरो की बजाय उनके पवित्र जीवन में अधिक है। जब व्यक्ति राजनीति में प्रवेश करता है तो उसे सत्ता-निरपेक्ष बने रहने के लिए एक परा-मानवीय आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता होती है, क्योंकि धर्म तथा सामाजिक विज्ञान से जुड़ी राजनीति व्यक्ति के धैर्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। सारांशतः राधाकृष्णन इस संतुलन के लिए, जो कि उनकी अपनी भी एक विशेषता है, गाँधीजी की प्रशंसा करते हैं। गाँधीजी की *सत्य की खोज* उन्हें तब वशीभूत कर लेती है, जब महात्मा यह कहते हैं :

> "सत्य की सार्वभौम तथा सर्वव्याप्त आत्मा को प्रत्यक्ष देखने के लिए व्यक्ति को सृष्टि की नगण्यतम रचना को भी स्वयं अपनी तरह प्यार करने योग्य होना चाहिए। और इसके बाद जो व्यक्ति ऊपर उठता है, वह जीवन के किसी क्षेत्र से अछूता नहीं रह सकता।"

राधाकृष्णन स्वयं अपनी गतिविधियों को अकादेमी की चारदीवारी के अन्दर सीमित नहीं कर सके, और यह महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने अपने आत्म-कथात्मक अंश को *सत्य के लिए मेरी खोज* (माई सर्च फ़ॉर ट्रुथ) कहा। क्या प्रत्येक जीवन सत्य को खोज नहीं रहा है, यद्यपि अचेतन या अनजाने रहकर ही?

निष्कर्षतः एक जीवनी लेखक के रूप में राधाकृष्णन अन्धभक्त कभी नहीं रहे। गाँधी का सार्वभौमिक यौन-प्रतिबन्ध अस्वीकार कर दिया जाता है और केवल उसके अयथार्थ रूप में ही नहीं बल्कि उसे एक सकारात्मकरूप देते हुए :

> "यौन-क्रिया केवल शारीरिक आनन्द भोग या विशुद्ध दैहिक कर्म नहीं है, बल्कि एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है तथा जीवन को स्थिरता प्राप्त होती है। बुराई यह तब बन जाती है जब यह दूसरों को क्षति पहुँचाती है अथवा जब किसी के आध्यात्मिक विकास में हस्तक्षेप करती है, परन्तु इनमें से कोई भी परिस्थिति (यौन) स्वयं में अन्तर्निहित नहीं है। वह कृत्य जिसके द्वारा हम जीते हैं, जिसके माध्यम से प्रेम अभिव्यक्त होता है और जिससे जाति क़ायम है, वह कोई लज्जा या पाप का कार्य नहीं है।"

तथापि, राधाकृष्णन उन अनेक विवादों की गहराई में नहीं जाते जो महात्मा गाँधी को घसीटते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है, अतः विस्तार के बारे में चिन्तित क्यों हुआ जाये? राधाकृष्णन यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि इस कठिन समय में ऐसे उत्कृष्ट नेता के उपहार के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए :

"सच्चा होने के लिए, साधारण होने के लिए, शुद्ध हृदय तथा कोमल होने के लिए, दुख और संकट में प्रसन्न तथा सन्तुष्ट वने रहने के लिए, जीवन को प्यार करने तथा मृत्यु से न डरने के लिए, आत्मा की सेवा करने तथा मृतात्माओं द्वारा भूताविष्ट न होने के लिए जव से विश्व प्रथमतः प्रारम्भ हुआ है, इससे अच्छा (गाँधीजी से वेहतर) पहले कभी न तो पढ़ा गया है, न जीवित ही रहा है।"

ऐसी ही कृतज्ञता जवाहरलाल नेहरू की व्याख्या में लिखते हैं :

"मानव जाति के एक महान् उद्धारक के रूप में नेहरू अद्वितीय हैं, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसने अपनी सारी जीवनी शक्ति राजनीतिक दासता, आर्थिक गुलामी, सामाजिक दमन तथा सांस्कृतिक जड़ता से लोगों की मानसिक मुक्ति के लिए लगा दी।"

4

दर्शन के व्याख्याता

राधाकृष्णन को दुनिया में दर्शन के एक प्रतिभाशाली व्याख्याता के रूप में जाना जाता है। ग्रीक अर्थों में दर्शन का मूल अभिप्राय 'विवेक का प्रेम' (लव ऑफ़ विज़डम) है। यह सारांशतः राधाकृष्णन के दृष्टिकोण को बतलाता है। वह मौलिक रूप से विवेक के प्रेमी थे और इस बात का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं था कि इस विवेक की उत्पत्ति पश्चिम में हुई या पूर्व में। ब्रह्मविज्ञान में बाल की ख़ाल निकालने वाली कर्कश टिप्पणियों से वे दूर रहे तथा सीधी राह पर बढ़ते रहे। उन्होंने अनुभव किया कि धर्मों, दर्शनों के विश्व भंडार में मस्तिष्क को समृद्ध करनेवाले तत्त्व निहित हैं और किसी को मात्र विवादों में अपने समय को नष्ट नहीं करना चाहिए। समय की तात्कालिक आवश्यकता यह थी कि समृद्ध अतीत को उत्सुक वर्तमान के लिए बोधगम्य बनाया जाय और उसे एक समग्र संरचना में संगठित किया जाय, जो कि अनेक सदियों में विभाजित हो गया था।

इस दृष्टिकोण ने ही विद्वत्ता की दुनिया में भारतीय दर्शन पर पहली बार अंग्रेज़ी में लिखनेवाला एक लोकप्रिय लेखक तथा वक्ता तैयार किया। भारतीय दर्शन पर इनके दो ग्रन्थ सचमुच ही युगान्तरकारी थे। शिक्षित भारतीयों का बहुमत, जो कि न तो पारम्परिक शिक्षा से परिचित था और न संस्कृत शिक्षा से, इन ग्रंथों के माध्यम से अपनी दार्शनिक विरासत से परिचित हो सका। खोखली विद्वत्ता के प्रदर्शन को राधाकृष्णन ने ईमानदारी से नकार दिया। उन्होंने भारत की दार्शनिक पद्धतियों की प्रचुर विषमताओं पर प्रकाश नहीं डाला। भारतीय दर्शन का परिचय कराते हुए उन्होंने पश्चिम के लिए एक संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत करना चाहा, अतः भारत भूमि पर विकसित होने वाली विविध तात्त्विक (मेटाफ़िजिकल) प्रणालियों की आध्यात्मिक एकता को रेखांकित करने में वे कभी नहीं थके। उनकी गहन पाण्डित्यपूर्ण कृतियाँ, पाठकों पर प्रेरणाप्रद प्रभाव डालती थीं। जवाहरलाल नेहरू ने 1944 में जब वे बन्दी थे, स्पष्ट रूप से स्वीकार किया :

"कुछ दिन पूर्व मैंने अचानक सोचा कि राधाकृष्णन के *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) को पढ़ूँ। मैंने प्रस्तावना को पढ़ना तथा अन्य अध्यायों का सामान्य

अवलोकन करना चाहा था। किन्तु शुरू करने के बाद मैं विचारों के इस अपूर्व अनुभव के वशीभूत होता गया और अब मैं इसमें उलझ गया हूँ।"

जवाहरलाल नेहरू ने *भारत : एक खोज ('डिस्कवरी ऑफ इण्डिया)* लिखने में मदद के लिए भारतीय दर्शन का भारी ऋण स्वीकार किया है। प्रोफ़ेसर के. आर. श्रीनिवास आयंगर कहते हैं : 'वास्तव में, राधाकृष्णन के ग्रन्थ न तो अत्यधिक असंगठित तथा अनियंत्रित हैं और न ही अत्यधिक संकीर्ण और चयनात्मक। सही आकार, सही उपागम, सही शैली के साथ वे दोहरी विशेषता रखते हैं—भारतीयों के लिए भारतीय दर्शन की व्याख्या तथा भारतीय दार्शनिक विचार को मुहावरे के रूप में पश्चिम के लिए बोधगम्य और आकर्षक बनाते हुए इसकी व्याख्या करने की क्षमता यहाँ विचार तथा अनुभव दोनों दक्षतापूर्वक कार्य करते देखे जा सकते हैं, और विशाल समझ बोधगम्यता तथा सुस्पष्टता के साथ बराबर चलती है, और दार्शनिक लेखन में ऐसा एक साथ यदा-कदा ही देखा जा सकता है।

भारतीय दर्शन के प्रकाशित हो जाने के बाद हम निम्नलिखित शास्त्रों के विषय में आसानी से बातचीत कर सकते हैं : वैदिक आरम्भ तथा औपनिषदिक तत्त्वमीमांसा, लोकायत का भौतिकवाद, जैनों का बहुलवादी यथार्थवाद आरम्भिक बौद्ध धर्म का नीतिशास्त्रीय आदर्शवाद, भगवद्गीता का आस्तिकवाद, बौद्ध धर्म के अनेक पन्थ, न्याय का तार्किक यथार्थवाद, वैशेषिक का परमाणविक बहुलवाद, सांख्य पद्धति, पतञ्जलि का योग, पूर्व मीमांसा, ब्रह्मसूत्र, शंकर का अद्वैत, रामानुज का ईश्वरवाद, माधव का द्वैतवाद, शाक्तवाद, शैव सिद्धांत तथा वल्लभ और चैतन्य का वैष्णववाद। पाठकगण कहीं असंख्य प्रणालियों के ज्ञान से दूर न रह जाएँ, राधाकृष्णन ने उन्हें भारतीय दर्शन की मूलभूत एकता से अविलम्ब परिचित कराया है :

> "वे क्रमशः मन्द-बुद्धि (मन्दाधिकारी), औसत-बुद्धि (मध्यमाधिकारी) तथा तीक्ष्ण-बुद्धि (उत्तमाधिकारी) की ज़रूरतों के अनुकूल हैं। विभिन्न विचार एक ही इकाई से निकले हुए हैं और एक पूर्ण अंगभूत, समस्त आत्मसमाहित सार्वभौम से सम्बन्ध रखते हैं। ब्रह्माण्ड की कोई भी प्रणाली पूर्ण नहीं मानी जा सकती यदि वह तर्क और भौतिकी, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र, तत्त्वमीमांसा और धर्म के विभिन्न पक्षों से रिक्त हो। भारत में विकसित चिन्तन की प्रत्येक प्रणाली ज्ञान, प्रकृति और मन की व्याख्या, आचार तथा धर्म के अपने निजी सिद्धान्त की माँग करती है।"

इण्डियन फिलॉसॉफ़ी (भारतीय दर्शन) एक समृद्ध संस्कृति को प्रेरित करने वाले भूभाग के कवि-सुलभ आह्वान के साथ शुरू होता है—इसे हिमालय की पर्वत श्रेणियों तथा तीन ओर से समुद्रों ने सुरक्षा प्रदान की। उदार प्रकृति ने जीवन

की मधुर शालीनताओं के विकास के लिए आवश्यक अवसर प्रदान किया और इस तरह भारत ने अपना निजी दार्शनिक चिन्तन उत्पन्न किया, जोकि पश्चिम की प्राचीन सभ्यताओं से प्रभावित नहीं था। यह किसी अन्य दर्शन से भिन्न है और आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत है। यह जीवन से विकसित हुआ है और इससे कभी दूर नहीं रहा। भारतीय दर्शन सर्वाधिक सहिष्णु भी है। राधाकृष्णन कहते हैं, इसने कभी भी विवेक का त्याग नहीं किया :

> "यह एक विलक्षण विरोधाभास है, और फिर भी इस स्पष्ट सत्य से अधिक कुछ नहीं है कि एक व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति की कठोरताओं से बँधा हुआ है, और वह विचार के मामलों में भ्रमण करने के लिए स्वतन्त्र है। विवेक स्वतन्त्रतापूर्वक उन पन्थों की आलोचना-प्रत्यालोचना करता है जिनमें मनुष्य जन्म लेते हैं इसीलिए भारत भूमि में विधर्मी, सन्देहवादी, अविश्वासी, विवेकी तथा स्वतन्त्र चिन्तक, भौतिकवादी तथा सुखवादी सभी फलते-फूलते हैं।"

भारतीय दर्शन को निदानात्मक अलगाव में नहीं समझा जा सकता और उसकी प्रणालियों के विकास को रेखांकित करने के लिए ऐतिहासिक उपागम की आवश्यकता है। राधाकृष्णन ने कुछ व्यापक विभाजन किया है : वैदिक काल (1500 ई. पू.—600 ई. पू.), महाकाव्य काल (600 ई. पू.—200 ईसवी) तथा सूत्र एवं शास्त्रीय काल (200 ईसवी से)।

वैदिक काल वेदों-उपनिषदों के मंत्रों को समाहित करता है। इन मन्त्रों की विभिन्न पारम्परिक व्याख्या की गई है और राधाकृष्णन ने इसके अतिरिक्त कुछ आधुनिक व्याख्याओं पर दृष्टि डाली है। श्रीअरविन्द द्वारा प्रस्तुत अन्तर्दर्शी व्याख्या का ज़िक्र राधाकृष्णन ने किया है। परन्तु, यद्यपि वे महान भारतीय रहस्यवेत्ता (श्रीअरविन्द) के प्रति श्रद्धावनत हैं, फिर भी अपना मत प्रकट करने में संकोच नहीं करते :

> "यदि हम पाते हैं कि यह विचार न केवल यूरोपीय विद्वानों के आधुनिक विचारों का विरोधी है बल्कि 'सायण' तथा पूर्व-मीमांसा की पद्धति की पारम्परिक व्याख्याओं तथा वैदिक व्याख्या की सत्ता का भी विरोध करता है, तो हमें श्री अरविन्द घोष का अनुकरण करने से हिचकना चाहिए, हालाँकि उनका विचार उत्तम हो सकता है। यह मानना ठीक नहीं है कि भारतीय चिन्तन की समग्र प्रगति वैदिक मन्त्रों की सर्वोच्च आध्यात्मिक सच्चाइयों से दूर स्थिर रूप से लगातार गिरती जा रही है। बल्कि मानव विकास की सामान्य प्रकृति के अनुरूप है। यह मानना अपेक्षाकृत आसान है कि बाद के धर्म और दर्शन

> प्रारम्भिक मानव-मस्तिष्क के अपरिष्कृत प्रस्तावों तथा प्रारम्भिक नैतिक विचारों एवं आध्यात्मिक आकांक्षाओं से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी मौलिक पूर्णता (ओरिजिनल परफ़ेक्शन) की अवनति के कारण।"

तथापि राधाकृष्णन मन्त्रों को इस दृष्टि से नहीं देखते कि वे अपरिष्कृत रचनाओं से अधिक कुछ नहीं हैं। वे उन प्रारम्भिक वैदिक आर्यों की काव्यात्मक आत्माओं से विवेक का प्रकाश पाते हैं, निस्सन्देह ईरानी जरथ्रुस्त्रों (पारसियों) की वंशावली के थे। वैदिक देवकुल के विषय में लिखते हुए वे पाठक को पाश्चात्य लेखकों की बौद्धिक रचनाओं को पढ़ने के लिए उकसाते हैं। आकाश का देवता वरुण, ग्रीक के औरानोस तथा जरथ्रुस्त्रों के अहुरमज़्द की बराबरी में दिखाया गया है। वरुण तथा अग्नि जैसे देवताओं को तो आसानी से वर्णित किया जा सकता है, पर 'ऋत्' (Rta) की अवधारणा से कोई क्या समझेगा? इस सन्दर्भ में निम्नलिखित शब्दावली से काफ़ी संकेत मिलता है :

> "'ऋत्' से विश्व की व्यवस्था का संकेत मिलता है। प्रत्येक वस्तु जो कि ब्रह्माण्ड में व्यवस्थित है, अपने सिद्धान्त के लिए ऋत् रखती है। यह प्लेटो के प्रत्ययों के अनुरूप है। अनुभव की दुनिया ऋत् की एक छाया या प्रतिविम्ब है—एक स्थायी यथार्थता, जो कि परिवर्तन के तमाम कोलाहलों में अपरिवर्तित बनी रहती है। ब्रह्माण्ड (सार्वभौम) विशिष्ट से पहले है, और इसीलिए वैदिक मनीषी सोचता है कि ऋत् समस्त घटनाओं के प्रदर्शन से पहले है।"

हीगेल तथा वर्ड्सवर्थ से लिये गये उद्धरण पश्चिमी पाठकों के लिए सहायक होते हैं। वैदिक सूर्य के बारे में लिखते हुए राधाकृष्णन ने प्लेटो की *रिपब्लिक* में वर्णित सूर्य-पूजा का सन्दर्भ दिया है। उषा (यूनानी EOS) उन्हें रस्किन के उद्धरणीय अंश की याद दिलाती है : "न्यायानुसार चिंत्य सृष्टि के लिए कोई भी रहस्यमयता इतनी गहन नहीं है, जितनी कि वह उषा-काल की।" अदिति देवों की माता—अनेक्सीमेन्डर के अनन्त रूप में देखी जाती है, जबकि मातरिश्वन प्रोमेथियस तथा सोम ग्रीक डायोनिसस से साम्य रखते हैं। जैसे-जैसे अध्ययन का क्रम वैदिक बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर प्रगति करता है, नीरसता का क्षणांश भी सामने नहीं आता। न तो उसमें उस रंगवर्णिता का अभाव है, जो समस्त वैदिक ब्रह्माण्ड विज्ञान ने तर्क में उत्पन्न किया है। जाति का उद्भव भी है। पुरोहिताई जो कि वैदिक संग्रहों की रक्षा के लिए एक पृथक् व्यवसाय था, अब एक पृथक् जाति (पुरोहित) बन गयी थी। जाति-व्यवस्था के प्रस्तुतीकरण के साथ ही मूल्याधारित जीवन का स्पष्ट ह्रास देखने को मिला। जाति-व्यवस्था ने स्वतन्त्र चिन्तन को दबाने की तथा चिन्तन की गति को मन्द करने की कोशिश की। नैतिक स्तर गिर गया। जो व्यक्ति जाति

के नियमों का उल्लंघन करता था, वह विद्रोही तथा जातिबहिष्कृत कहा जाता था। शूद्र सर्वोच्च धर्म से बहिष्कृत थे। पारस्परिक अवमानना बढ़ गयी।

जीवन का धार्मिक और दार्शनिक पथ प्रशस्त करने वाले अपने विचार को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन ने उपनिषद्-काल को लोगों की आध्यात्मिक चेतना में एक निश्चित उन्नति के रूप में देखा। यह उनके लिए निश्चित रूप से कुंठित करने वाली बात थी कि ऐसे ऐतिहासिक ज्ञान के लिए उपनिषद् के विचारकों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में न जानें। ऐसा अध्ययन धार्मिक जीवन से अद्भुत दर्शनों की भाँति निश्चित ही सहायक हो सकता था। विशेष रूप से राधाकृष्णन के अनुसार क्योंकि उपनिषद् वेदों के लिए सहायक नहीं है।

राधाकृष्णन उपनिषदों का अध्ययन तत्त्वमीमांसा (मेटाफ़िजिक्स) तथा नीतिशास्त्र (इथीक्स) के रूप में करते हैं। परम यथार्थ की खोज के लिए 'आत्म' (सेल्फ़) की खोज से प्रारम्भ करना चाहिए। उपनिषदों द्वारा आत्म-विश्लेषण को भारत के आध्यात्मिक इतिहास में विद्वानों तथा धर्म विज्ञानियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचित किया गया है। 'आत्म' क्या है?

> "उपनिषद् आत्म को शरीर, अथवा चेतना-धारा से जोड़ने को अस्वीकार करते हैं। आत्म कोई संबंध नहीं जो संबंधों का एक आधार चाहता है, न ही यह अन्तर्वस्तुओं का संयोजन है, जो कि इसके जोड़क अभिकर्ता के अभाव में अवोधगम्य है। हम एक सार्वभौम चेतना की सच्चाई को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं, जो कि चेतना की विपय-वस्तुओं को संयोजित करती है तथा इन विषय-सूचियों के न रहने पर भी इसी तरह स्थिर रहती है यह मौलिक पहचान, जो कि आत्म तथा अनात्म (नॉट-सेल्फ़) दोनों की पूर्व कल्पना है, 'आत्मा' कहलाती है। इसकी यथार्थता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता।"

आत्म अथवा आत्मा आत्मनिष्ठ (आत्मपरक) यथार्थता है और ब्राह्मण वस्तुनिष्ठ (विपयपरक) हैं। ब्राह्मण आनन्द हैं। यद्यपि उपनिपद् के मनीपियों की जीवनी-विषयक सामग्री उपलव्ध नहीं है पर जो कुछ उपलव्ध है, उसका राधाकृष्णन ने अच्छा इस्तेमाल किया है। याज्ञवल्क्य और उनकी दो पत्नियों—मैत्रेयी तथा गार्गी के बीच विस्तृत वाद-विवाद का उपयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि नैतिक जीवन ईश्वर केन्द्रित जीवन है, 'एक ऐसा जीवन जो मानवता के लिए भावूपर्ण प्रेम तथा उत्साह रखता है, ससीम के माध्यम से असीम को पाना चाहता है, तथा तुच्छ स्वार्थों के लिए केवल स्वार्थपूर्ण कर्म नहीं करता।' राधाकृष्णन ने उपनिषदों के अध्ययन में असीम के वाद वुद्ध के मठवादी वीज को देखा :

> "आदर्श रूप में सुन्दर तथा निष्कलंक रूप में पवित्र (शुद्ध) बनने की आत्मा की उन्मुक्त आकांक्षा स्थान, समय और अनुभव-शृंखलाओं से बद्ध वस्तुओं द्वारा पूर्ण नहीं होती। अनेक ऐसे लोग हैं जो परम योग्य अस्तित्व के आदर्श को अन्य जीवों (सत्ता) के प्रेम में अनुभव करना चाहते हैं। जब तक यह सत्ता (बीइंग) एक स्थान और समयबद्ध मानव 'आत्म' है, तब तक आदर्श कभी प्राप्त नहीं होता। अनेक ऐसे लोग हैं जो निर्धनता से आत्मा की मुक्ति तथा जीवन की पवित्रता पाने के लिए अपनी पत्नी, बच्चे, घर-सम्पत्ति सब छोड़कर भिक्षु के रूप में बाहर चले गये। भिक्षुओं के इस समूह ने, जिन्होंने उन बेड़ियों को तोड़ दिया, जो उन्हें गृह जीवन से बाँधती थीं। बौद्धों के मठवाद का मार्ग तैयार किया।"

तथापि, कठोर अत्यन्त व्यवस्थाओं का निर्माण चार्वाक, जैन, तथा बौद्धों ने किया जो नीतिशास्त्र पर ज़्यादा ज़ोर देते थे। परन्तु यह सब सामान्य जनता की गहन आध्यात्मिक इच्छाओं और भावनाओं को कोई पोषण प्रदान नहीं कर सकता। लोग उस पर अपना कुछ नियन्त्रण चाहते थे और इसी तरह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में 'इष्ट देवता' की अवधारणा का विकास हुआ :

> "भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार रूप में दिखाया गया है, वैसे ही जैसे उपनिषदों में पंचरात्र व्यवस्था के अनन्त ब्राह्मण, श्वेताश्वतर तथा अन्य परवर्ती उपनिषदों का शैववाद, तथा बौद्ध धर्म का महायान, जहाँ पर बुद्ध एक शाश्वत देवता बन जाते हैं, ये सभी इस धार्मिक प्रतिक्रिया से संबंधित हैं।"

यद्यपि राधाकृष्णन ने जैन दर्शन का सुविज्ञता से विश्लेषण करते हुए इसकी तत्त्व-प्रणाली की तुलना लीब्नीज़ के चिदणुवाद (मोनाडिज़्म) तथा बर्गसां के सृजनात्मक विकासवाद के साथ की है। यह स्पष्ट है कि उनका हृदय गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व द्वारा जीत लिया गया है। उनके अध्ययन में 'भारतीय दर्शन' के कुछ उत्कृष्टतम पक्ष बौद्ध धर्म के उस वातावरण से सम्बद्ध हैं, जिन्हें व्यक्ति के जीवन में विचार का साक्षात् अवतार माना जाता है। राधाकृष्णन अमूर्त दर्शन में विश्वास नहीं करते थे। ब्रिटिश अकादेमी में बुद्ध पर उनका व्याख्यान होने के बहुत पहले *इण्डियन फिलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) का उनका प्रथम ग्रन्थ बुद्ध को निस्संकोच श्रद्धांजलि स्वरूप प्रस्तुत हो चुका था :

> "बुद्ध महान अपने प्रचण्ड आत्मसंयम, स्वप्निल सादगी, सकोमल शान्ति तथा गहन प्रेम के साथ पूर्व की आत्मा का सदैव प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें

अनेक नामों से जाना जाता है : शाक्यमुनि, शाक्यों का पण्डित, तथागत; पर वे ही थे, जो सत्य तक पहुँचे।"

राधाकृष्णन बुद्ध को एक सुधारक के रूप में देखते हैं, किसी नये धर्म के निर्माता के रूप में नहीं। बौद्ध धर्म का भारत 'सनातन धर्म' है। इसने अपने अवांछित उपचयों (अभिवृद्धियों) को स्पष्ट किया तथा उन्हें समय की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। उनके अनुसार, गौतम बुद्ध ने उपनिषदों से लेकर वैदिक बहुदेववाद तक उनकी उलझन को दूर किया, ज्ञानातीत यथार्थता पर उपनिषदों के वक्तव्यों को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया, तथा अपने नीतिगत सार्वभौमवाद को महत्त्व दिया। एक नये दृष्टि विन्दु से उपनिषदों के विचार का पुनर्कथन केवल 'प्रारम्भिक बौद्धवाद' है। निश्चय ही उपनिषदों तथा बौद्ध धर्म के बीच अनेक सामान्य चीज़ें हैं, जैसे वैदिक सत्ता की महत्त्वहीनता, कर्म का सिद्धान्त, विश्व की नश्वरता का सिद्धान्त, वैयक्तिक आत्म तथा सिद्धि प्राप्ति की सम्भावना।

परन्तु उपनिषद् के शिक्षकों के विपरीत बुद्ध तत्त्व मीमांसक समस्याओं पर चिन्तन को अस्वीकार करते हैं। यह पक्ष राधाकृष्णन को श्रद्धा के लिए बाध्य करता है। जब एक धर्म-सुधारक एवं आध्यात्मिक प्रमुख चरम पर टिप्पणी करने से वचता है, तो यह उसके अनुयायियों के लिए हतोत्साहित करने वाला अनुभव हो सकता है। बुद्ध चुप क्यों थे? क्या वे स्वयं को अस्थिर अनुभव करते थे अथवा भयभीत थे?

चूँकि राधाकृष्णन गौतम बुद्ध को एक अस्पष्ट स्वप्नद्रष्टा अथवा ढोंगी मानकर बहिष्कृत नहीं कर सकते थे, अतः वे मानते हैं कि बुद्ध इसलिए चुप थे क्योंकि वे उपनिषद् की ब्राह्मणविषयक अवधारणा को एक असीम चरम क्षेत्र के रूप में अस्वीकृत नहीं कर सकते थे। वास्तव में उन्होंने अवर्णनीय चरम क्या है, मात्र यह वताने के लिए आनुभाविक सत्ता की किसी श्रेणी का प्रयोग नहीं करना चाहा। समय की आवश्यकता थी कि जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसकी सिद्धि के लिए व्यर्थ चिन्तन न करके, व्यक्ति स्वयं के अपने जीवन के माध्यम से उसे सिद्ध करने में लगाय :

> "अतः बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्रणालियों के संघर्ष से बाहर आने का उपदेश दिया और उनका ध्यान धर्म (धार्मिक जीवन) की ओर मोड़ा ताकि सत्य की प्राप्ति हो सके। जब हम स्वयं को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर लेंगे तो सत्य हम में स्वयं कार्य करेगा, यथार्थता स्वयं हमारे भीतर प्रतिबिम्बित होगी तथा हमारी सत्ता को संशोधित करेगी। सत्य की उपलब्धि स्वयं जीवन में ही होनी है। यह कोई प्रशिक्षित विवाद का मसला नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।"

बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों ने ठीक ऐसा ही किया। फलतः समस्त भारत में दर्शन के विविध पन्थ उत्पन्न हुए जैसे सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इस प्रकार शंकर के आगमन का भी उपयुक्त समय आ पहुँचा।

भारतीय दर्शन का दूसरा खण्ड न्याय तथा वैशेषिक जैसी विविध दार्शनिक प्रणालियों का व्यापक विवेचन करता है। यहाँ चिन्तन तात्त्विक (मेटाफ़िजिकल) कुतर्कों द्वारा वार-बार बाधित होता है, परन्तु राधाकृष्णन ने इन सभी को बड़ी सहजता से पूरा किया है। संस्कृत में दार्शनिक शैली की एक वास्तविक वृष्टि होती है, जो कि अंग्रेज़ी भाषा की साँस प्रायः रोक देती है। प्रकाशक संपादक—मूरहेड के समक्ष राधाकृष्णन की इस शैली से समस्या उठ खड़ी हुई, क्योंकि राधाकृष्णन ने रोमन लिपि में संस्कृत शब्दों तथा मुहावरों की इतनी भरमार कर दी थी कि इससे लेखन को तो आकर्षक प्रस्तुति मिली, किन्तु छपाई की क़ीमत काफ़ी वढ़ गई। तथापि स्टेनले उनविन ने देखा कि इस पुस्तक की भावी सम्भावनाएँ हैं और इसीलिए *इण्डियन फिलोसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) उस शैली का अग्रदूत सिद्ध हुआ, जो कि भारतीय प्रतिपादकों द्वारा आज भी अपनी शैलियों (क्लासिक) के प्रतिपादन में सामान्यतः प्रयुक्त होती है।

अपनी पुस्तक में वर्णित सभी दार्शनिक प्रणालियों में वौद्ध धर्म की तरह शंकर का अद्वैतवाद भी राधाकृष्णन के लिए विशिष्ट महत्त्व रखता है। राधाकृष्णन ने इस दर्शन के चित्रण को स्वयं अपने जीवन-दर्शन के चित्रण के रूप में लिया। राधाकृष्णन ने सदैव साग्रह यह कहा कि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से ऊपर उठने के लिए धार्मिक-दार्शनिक जीवन अत्यावश्यक है। परन्तु न तो धर्म और न ही दर्शन को व्यक्ति की उन्नति में वाधक वनना चाहिए। वह धर्म जो जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार नहीं करता सदा बाधक होता है और किसी के आध्यात्मिक विकास में भी सहायक नहीं होता। अतः प्रत्येक युग को, निस्संदेह अपनी पारम्परिक विरासत के सार तत्त्वों को भुलाये विना उपलब्ध व्योरों को पुनर्व्याख्यायित करना चाहिए। बुद्ध के वाद शंकर ही थे जिनसे राधाकृष्णन ने इस विचार को पुष्ट किया।

जिन दिनों दृश्यपट्ल पर शंकर का आविर्भाव हुआ, उन दिनों भारत में असंख्य मतों, सम्प्रदायों, अन्धविश्वासों तथा बाल की ख़ाल निकालने वाली तत्त्व मीमांसाओं का बोलबाला था :

> "तभी एक आध्यात्मिक सुधारक तथा परम्पराबद्ध मूल्यों के उत्सुक हिमायती के रूप में शंकर का आगमन हुआ। उन्होंने अपने युग को पुराणों के पण्डित्य-विलास के उपनिषदों के गूढ़ सत्य की ओर लौटाने का प्रयत्न किया। उच्चतर जीवन के लिए आत्मा को नेतृत्व देने वाली आस्था शक्ति उनके

लिए परीक्षा वन गई। अपने युग की आध्यात्मिक दिशा को निर्धारित करने की प्रेरणा का अनुभव किया, जो एक ऐसे धर्म-दर्शन को बनानेवाली थी, जिससे कि लोगों की नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ बौद्ध धर्म, मीमांसा, तथा भक्ति की अपेक्षा बेहतर ढंग से पूरी हो सकें। देववादी भावना के कुहासे में सत्य को छिपा रहे थे। अपने रहस्यवादी अनुभव की प्रतिभा के कारण जनता की व्यावहारिक ज़रूरतों के प्रति वे वेहद उदासीन थे। कर्म पर मीमांसावादी दबाव से आत्मविहीन कर्मकाण्ड का विकास हुआ। कोई भी गुण जीवन के गहन जोखिमों का सामना कर सकता है, लेकिन जीवित तभी रह सकता है जव कि यह चिन्तन का सुन्दर पुष्प हो। शंकर के मत में, केवल अद्वैत दर्शन ही संघर्षरत मतों के सत्य के प्रति न्याय कर सकता है।"

शंकर के अद्वैतवाद का तात्त्विक स्वरूप उनके एक कवि, एक रहस्यवादी तथा एक राजनीतिज्ञ होने के मार्ग में आड़े नहीं आया। कुछ लोग उनसे भी अधिक सार्वभौम रह चुके हैं। शंकर के अद्वैत के प्रति राधाकृष्णन का आकर्षण रामानुज के विशिष्टाद्वैत के प्रति उनकी रुचि में वाधक नहीं बनता। दो आध्यात्मिक नक्षत्रों का वैषम्यपूर्ण विश्लेषण, विचारों और शैलियों के संतुलन के लिए पूर्णतः पाण्डित्यपूर्ण है :

> "प्रत्येक की सर्वोत्तम विशेषताएँ दूसरे की ख़ामियाँ थीं। शंकर का सुस्पष्ट नीरस तर्क उनकी पद्धति को धार्मिक रूप से अनाकर्षक बनाता है, रामानुज की दूसरी दुनिया की सुन्दर कहानियाँ, जिन्हें वे विश्वास के साथ सुनाते हुए कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति के समय व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से सहायता मिली, दृढ़ विश्वास नहीं जगातीं। शंकर की विध्वंसक तर्कविद्या, जो कि सबको ईश्वर मनुष्य तथा विश्व को एक चरम चेतना से जोड़ती है, रामानुज के समर्थकों को तनिक भी पसन्द नहीं आई। शंकर के समर्थक उनसे भी आगे बढ़ गये और उनके सिद्धान्त को ख़तरनाक रूप से नास्तिकतावादी मानसिकता के निकट ले आये।"

जब हम *इण्डियन फिलॉसॉफी* (भारतीय दर्शन) के दोनों खण्डों को ध्यान से देखते हैं, तो लगता है कि यह व्यवस्था के हामी लोगों का चतुर प्रक्षेपण ही है, जो हमें राधाकृष्णन की प्रस्तुति में एक सशक्त चुम्बक की तरह खींचता है। कुल मिलाकर, भारतीय दर्शन कुछ सुपर कम्प्यूटरों (उत्तम गणकों) द्वारा प्रलेखों का प्रकटन नहीं था। चिन्तन तथा आध्यात्मिक हस्तियाँ भी हमारे अध्ययन में उतनी ही रुचि ले रही हैं, जितनी की स्वयं व्यवस्था। वे धर्म और दर्शन के मिलन स्थल हैं जैसा कि राधाकृष्णन *भारतीय दर्शन* के निष्कर्ष में कहते हैं :

"वशिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतञ्जलि, बादरायण और जैमिनी तथा शंकर और रामानुज के नाम इतिहासकारों के लिए केवल विषय-वस्तु नहीं हैं बल्कि व्यक्तित्व विषयक शैलियाँ हैं। उनके साथ दर्शन, चिन्तन तथा अनुभव पर आधारित विश्व-दृष्टि है। चिन्तन जब स्वयं अन्त के परे सोचता है तो वह जीवन के सर्वोच्च परीक्षण द्वारा परीक्षित होकर तथा जीवन जीकर धर्म बन जाता है। उसी समय दर्शन का शास्त्र एक धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति करता है।"

पाठकों की रुचि को जाग्रत बनाये रखने के लिए राधाकृष्णन ने बहुत-सी शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, समस्त जैन दर्शन संक्षिप्त वाक्यों की एक शृंखला में प्रस्तुत किया गया है :

"यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो अवर पदार्थ को उच्चतर आत्मा द्वारा वश में रखना होगा। जब आत्मा उस भार से मुक्त रहती है जो इसे नीचे ले जाता है तो यह ऊपर सर्वोच्च ब्रह्माण्ड की ओर उठती है, जहाँ पर मुक्त आत्माएँ वास करती हैं। व्यक्ति का आमूल आन्तरिक परिवर्तन स्वतन्त्रता का मार्ग है। व्यक्ति के स्वभाव में रूपान्तरण लाने तथा नये निर्माण को रोकने के लिए नैतिकता एक आवश्यक उपकरण है। निर्वाण का मार्ग जिन (जैन) के त्रिरत्नों में विश्वास रखने में है, अर्थात् उनके सिद्धान्त तथा पूर्ण आचार के ज्ञान में।"

समस्त पृष्ठों पर संस्कृत शब्दों और मुहावरों का व्यापक रूप में प्रयोग करते हुए राधाकृष्णन ने अंग्रेज़ी साहित्य से भी उपयुक्त उद्धरण दिये हैं। यहाँ पर वे जैन मानवतावाद को रेखांकित करने के लिए कॉलरिज के 'एंसिएण्ट मेरीनर' का उद्धरण देते हैं तथा विश्वास दिलाते हैं कि भाग्य के अदृश्य हाथों में हम पूर्णतः असहाय नहीं हैं :

"हम पूरी तरह भाग्यवाद के हाथों में नहीं है, यद्यपि कर्म हमारे समस्त वर्तमान जीवन को, जोकि हमारे अधीन है, निर्धारण करता है तथा अतीत के प्रभावों में भी सुधार कर सकता है। हमारे लिए यह सम्भव है कि अपने असाधारण प्रयासों द्वारा कर्म के प्रभाव को टाल दें। यहाँ पर ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। परम संयमी तपस्वी स्वेच्छाचारी देवता के अस्थिर चित्त से अभिमन्त्रित नहीं होते, बल्कि ब्रह्माण्ड की एक व्यवस्था से होते हैं, जिसके कि वे स्वयं एक अंग हैं। "

जब भारतीय दर्शन ऐसे आकर्षक तरीक़े से प्रस्तुत किया गया तो कोई और

अधिक भारतीय विरासत को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता था। *'कंटपररी इण्डियन फ़िलॉसफी' (समसामयिक भारतीय दर्शन,* 1936) जिसका राधाकृष्णन ने मूरहेड के साथ मिलकर संपादन किया था, *भारतीय दर्शन* का उपयुक्त अनुकरण था, जोकि चैतन्य-आन्दोलन पर समाप्त हुआ था। तब तक महान् दार्शनिकों का समय समाप्त नहीं हुआ था, कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तक तब भी मौजूद थे, जैसे कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द तथा भगवान दास। *'द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ़'* (जीवन की हिन्दू-दृष्टि 1927) एवं *'द आइडियलिस्टिक व्यू आव लाइफ़' (जीवन की आदर्शवादी दृष्टि,* 1932) मुख्यतः अद्वैत वैदान्त पर अर्थपूर्ण प्रस्तुतियां हैं। ये दोनों पुस्तकें मूलतः पाश्चात्य श्रोताओं को दिये गये व्याख्यानों पर आधारित थीं। 'जीवन की हिन्दू दृष्टि' के आते ही एक चुनौती खड़ी हो गयी :

> "यह कहना सही नहीं कि यदि हम प्रकृति की अन्ध-शक्तियों को ओर छोड़ देते हैं, तो इस जगत में कुछ भी गतिमान नहीं रहता जोकि अपने मूल में ग्रीक नहीं है और जो हमारे साथ एक सामान्य जगह पर स्थिर हो जाता हैं लगभग आधी दुनिया उन स्वतन्त्र आधारों पर गतिमान है जिन्हें हिन्दू धर्म ने प्रदान किया है। चीन, जापान, तिब्बत श्याम, बर्मा तथा सिलोन (श्रीलंका) अपने आध्यात्मिक मूल के रूप में भारत को देखते हैं।"

राधाकृष्णन प्रारम्भ में ही स्पष्ट करते हैं कि हिन्दू 'शब्द' मूलतः प्रादेशिक था, सर्वत्र स्वीकृति वाला नहीं। और कि 'हिन्दू धर्म एक व्यापक जटिलता है, किन्तु सूक्ष्म रूप में आध्यात्मिक चिन्तन तथा अनुभूतियों के समूह को एकीकृत करता है।' उन्होंने टिप्पणी की कि हिन्दू धर्म के इस सन्देश के बावजूद कि हम ईश्वर के प्रति अपने ज्ञान को बढ़ायें बहुसंख्यक भारतीयों ने सहिष्णुता के नाम पर अपने अन्धविश्वासों तथा प्रथाओं (रूढ़ियों) को सावधानी से सुरक्षित रखा है। उन्होंने पाश्चात्य श्रोताओं को अपनी बात सरलता से समझाने के लिए भारतीय दर्शन को पाश्चात्य दर्शन के साथ जोड़ने का भी प्रयत्न किया :

> "याज्ञवल्क्य की 'नेति' हमें बर्नार्ड शॉ के 'नेसियो' की याद दिलाती है—एक मन्थर शान्ति की, जहाँ सभी प्रेमी स्वयं को भूल जाते हैं, इससे हमें रूयूसब्रॉक, डायोनीसियस, ऑरोपेजिट एकार्ट तथा बोएम की भी याद आ जाती है।"

हालाँकि ऐसे सन्निधानों का सामान्यतः स्वागत ही हुआ, परन्तु कुछ की भृकुटियाँ भी तनीं। उदाहरणार्थ, अपने विवेचन में पाश्चात्य चिन्तन से तथ्य लेने के लिए पी. टी. राजू ने राधाकृष्णन की आलोचना की, क्योंकि राजू ने इससे भारतीय चिन्तन का अपूर्ण होना माना। रिचर्ड डी. स्मट ने उनके उत्साह को भ्रान्तिपूर्ण अद्वैत में

उनकी व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि के रूप में देखा :

> "शंकर का मत है कि ब्राह्मण के सम्बन्ध में विश्वसनीय प्रमाण या सत्य का स्रोत केवल 'श्रुति' है। श्रुति की शोध विवेक द्वारा की जाती है। क्योंकि विवेक रहित शोध उस सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता, जो केवल श्रुति से ही निकल सकता है। तर्कविद्या यहाँ तब तक अशक्त है, जब तक वह पहले श्रुति की सत्ता स्वीकार नहीं कर लेती। और फिर अनुगामी के रूप में उसकी सुबोधगम्यता प्रदर्शित करने के लिए कार्य नहीं करती। शंकर की 'ब्रह्मजिज्ञासा' श्रुतिवाद का एक सशक्त पक्ष है तथा ईसाइयत अथवा इस्लाम के वेदांकित धर्मविज्ञान के समान है।"

परन्तु राधाकृष्णन हमारी पुरातन आस्था को नयी आँखों से देखने की कोशिश कर रहे थे और उन्होंने स्वीकार किया कि 'उनका कृत्य अन्ततः एक व्यक्तिगत विवेचन होगा, कोई अवैयक्तिक सर्वेक्षण नहीं।' तात्कालिक रूप में राधाकृष्णन दर्शन के एक व्याख्याता के रूप में कार्य कर रहे थे, और अपनी कृति *'इण्डियन रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट' पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन,* 1939) में उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि पाश्चात्य चिन्तन पौर्वात्य चिन्तन से प्रभावित हुआ। उनकी वृहत् शिक्षा (ज्ञान) पृष्ठ-दर-पृष्ठ हमें अभिभूत करती चलती है, जब वे सहजता से बौद्ध धर्म, वेदान्तिक अद्वैतवाद, प्लूटिनस तथा असीसी के सेंट फ्रांसिस के सहारे प्रवहमान रहते हैं। पूर्व तथा पश्चिम के महान् व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की गयी सर्वोच्च आध्यात्मिक जीवनोपलब्धियों को देखने पर हमारे भीतर एक विश्वास उत्पन्न होता है कि यह सब व्यर्थ ही नहीं हुआ है। ये व्यक्ति तथा चेष्टाएँ समस्त मानवता के लिए सहज गति से एक महान उषा-काल की ओर अग्रसर हैं :

> "जो कुछ भी व्यक्ति ने किया है और जाति ने भी, अन्ततः शायद वह इसमें सफल हो और होना भी चाहिए। जब ईश्वर के अवतार की अनुभूति होगी, केवल कुछ व्यक्तियों में नहीं बल्कि समस्त मानवता में, तो हम एक नई सृष्टि में होंगे। स्त्रियों तथा पुरुषों की नयी जाति, परिवर्तित मानवता, नयी समझ तथा पुनर्जन्म, तथा एक नवसृजित विश्व होगा। यह विश्व का भाग्य है, सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है। मात्र यही हमारी गहनतम सर्जनात्मक ऊर्जा को जगा सकती है, भावशून्य विवेक से हमें बचा सकती है, रचनात्मक मनोवेग के साथ हमें प्रेरणा दे सकती है, तथा मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से हमें एक विश्व-साहचर्य (भाईचारा) में एकीकृत कर सकती है।"

5

धर्मग्रन्थों के व्याख्याता

राधाकृष्णन द्वारा किये गये कुछ चुनिन्दा भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुवाद तथा व्याख्याएँ दुनिया-भर के लाखों लोगों के लिए प्रेरणा स्रोत रही हैं। उनके द्वारा किया गया *भगवद्गीता* का अनुवाद, जो कि 1948 में प्रकाशित हुआ एक लम्बी प्रस्तावना के साथ संस्कृत मूल का रोमन लिप्यान्तरण है। इसमें विस्तृत टिप्पणियाँ भी समाहित हैं। *गीता* के विषय में अनेक पण्डितों तथा भक्तों द्वारा टिप्पणियाँ की गयी हैं, जिसका भारत के स्वाधीनता संग्राम में महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ समीक्षायें तो ग्रन्थ ही बन गयी हैं। बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* (मराठी), सुब्रह्मण्य भारती के तमिल अनुवाद तथा श्रीअरविन्द के *गीता पर निबन्ध* (अंग्रेज़ी) बिना उसके शाश्वत सन्देश को क्षति पहुँचाये, गीता की अभूतपूर्व समसामयिक व्यवस्थाएँ हैं। राधाकृष्णन की कृति जो कि शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई थी, महात्मा गाँधी की स्मृति को समर्पित है। लेखन की ऐसी दुनिया के प्रति सजग रहते हुए, जिसमें संचार क्रान्ति ने विश्व को एक गाँव बना दिया था, राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक को विश्व-भर के सामान्य पाठकों के लिए सुपाठ्य बनाना चाहा है। अपने प्राक्कथन में वे कहते हैं :

> "आज हम जिस प्रमुख समस्या का सामना कर रहे हैं, वह है मानव-जाति के समन्वय की। इस उद्देश्य के लिए गीता विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यह धार्मिक चेतना के विविध और परस्पर विरोधी स्वरूपों में सामंजस्य का प्रयास करती है, तथा धर्म की मौलिक अवधारणाओं पर बल देती है, जो न तो पुरातन हैं और न ही आधुनिक, बल्कि शाश्वत हैं तथा अतीत, वर्तमान एवं भावी मानवता के मौलिक स्वभाव से सम्बन्धित हैं।"

राधाकृष्णन अपनी पूरी क्षमता से एक सरल संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं और इसमें वे अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। प्रारम्भ में ही वे एक परिचयात्मक लेख लिखते हुए हमारा ध्यान गीता की ओर आकृष्ट करते हैं, इसे वे महायान बौद्धों की दो कृतियों *महायानश्राद्धोत्पत्ति* तथा *सद्धर्मपुंडरीक* का प्रेरणा-स्रोत बताते

हैं। एक जर्मन संस्कृत विद्वान का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि उसने (जर्मन) *गीता* को एक शाश्वत महत्त्व की कृति कहा है, तथा अल्डस हक्सले ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि '*गीता* चिरस्थायी दर्शन का सर्वोत्तम व्यवस्थित आध्यात्मिक वक्तव्य है।' इसके पश्चात् वे परम्परागत समीक्षकों की शैली तक आते हैं। *गीता* तत्त्वमीमांसा (ब्रह्मविद्या) तथा नीतिशास्त्र (योगशास्त्र) दोनों है तथा यह पुरातन विवेक (प्रज्ञा) से परिचय कराती है। यह विविध प्रणालियों का परिशोधित, लोकप्रिय समन्वय है। इसमें समाहित है : 'यज्ञ की वैदिक पूजा, ज्ञानातीत ब्राह्मण' की औपनिषदिक शिक्षा, भागवत दैववाद और विधिसम्मत धर्मपरायणता तथा सांख्य द्वैतवाद एवं योग चिन्तन।'

विषयवस्तु का निर्धारण करते हुए, जिस पर गीता की रचना हुई, राधाकृष्णन ने अनेक पाश्चात्य आलोचकों का चिन्तन-सन्दर्भ दिया है। (जैसे गार्वे, फर्कुहर, हॉपकिंस, होल्ज़मान, कीथ, बर्नेटर, रुडॉल्फ़ ओटो तथा श्रेडर) अनुवाद तथा समीक्षा के लिए राधाकृष्णन शंकर पर निर्भर करते हैं। परिचयात्मक लेख लिखने में सभी शास्त्रीय समीक्षकों को ध्यान में रखा गया है, और इसलिए हमारे सामने *गीता* का एक समग्र चित्र उपस्थित होता है कि विभिन्न युगों में भारतीयों के लिए *गीता* किस रूप में प्रस्तुत हुई। अतः जब उपनिषद् घोषित करते हैं कि चरम कल्पनातीत है, और गीता स्वयं भी इसे उपनिषद् की ही तरह स्पष्ट करती है, तो यह ग्रन्थ चरम को कल्पनीय परिधि के अन्दर ले आता है :

> "गीता का बल एक व्यक्तिगत देवता (इष्ट) के रूप में चरम पर है जो कि अपनी प्रकृति के द्वारा गोचर विश्व की सृष्टि करता है। वह प्रत्येक जीव के हृदय में रहता है, वह सभी यज्ञों का उपभोक्ता तथा स्वामी है। वह हमारे हृदयों को भक्ति की दिशा में प्रवृत्त करता है तथा हमारी प्रार्थना को स्वीकार करता है। वह मूल्यों का स्रोत तथा पोषक है। पूजा तथा प्रार्थना में वह हमारे साथ व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्रवेश करता है।"

परन्तु यहाँ हिन्दुओं के सभी देवताओं में विष्णु को सर्वोत्तम क्यों माना जाता है? राधाकृष्णन इस प्रश्न की गहराई में जाते हैं और पाते हैं कि विष्णु की उपस्थिति सार्वभौम है, वह सर्वव्यापक है। तैत्तिरीय के अनुसार, 'नारायण के लिए हम पूजा करते हैं : वासुदेव के लिए हम चिन्तन करते हैं और विष्णु इसमें हमारी सहायता कर सकता है।' इसी तरह राधाकृष्णन हमें कृष्ण की ऐतिहासिकता का स्मरण दिलाना नहीं भूलते, जो कि *छान्दोग्य उपनिषद्* तथा *महाभारत* में प्रकट होते हैं। वासुदेव कृष्ण भारतीय संस्कृति में एक आवर्तक चरित्र हैं। जैसे कि *गीता* एक ऐतिहासिक चरित्र को सर्वोच्च सत्ता (प्रभु) से जोड़ती है। राधाकृष्णन

कहते हैं कि यह एक सुपरिचित घटना है, क्योंकि पूर्ण जागरूक एक आत्मा स्वयं को सदैव सार्वभौम आत्म के साथ पाती है। ऐतिहासिक कृष्ण युद्धभूमि पर व्याख्यान दे सकते थे, परन्तु स्वयं को एक शाश्वत देवता के रूप में घोषित करने का उन्हें पूरा अधिकार था :

> "कृष्ण द्वारा देवत्व का दावा समस्त गम्भीर आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को सामान्य पुरस्कार है, वह कोई नायक नहीं है, जो कि एक समय धरती पर आया और अपने प्रिय मित्र तथा अनुयायी बनाकर यहाँ से चला गया है, अपितु वह सर्वत्र विद्यमान है, हममें से प्रत्येक में है और अपनी तात्कालिक विद्यमानता बताने के लिए वह हमसे बोलने को तैयार है। वह कोई विगत सत्ता नहीं है, बल्कि अन्तर्यामी आत्मा है, हमारी आध्यात्मिक चेतना के लिए एक विषयवस्तु है।"

यह विचार अवतारवाद की समस्या हल करने में राधाकृष्णन की बड़ी मदद करता है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के युग में, जबकि सन्देहवाद (संशयवाद) काफ़ी फैल चुका है, 'अवतार का सिद्धान्त' अधिक विश्वसनीय नहीं हो सकता, तब अतीत की व्याख्या कैसे की जाये? वास्तव में यह एक बहुत ही वैध दृष्टिकोण है :

> "विश्व की वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ प्रक्रिया परम की उच्चतर तथा निम्नतर प्रकृति की अभिव्यक्ति मात्र है, अब जिसमें भी महत्ता है, सुन्दरता है, सुदृढ़ता है, उसमें प्रभु की उपस्थिति अधिक प्रदर्शित होती है। जब कोई विशेष व्यक्ति आध्यात्मिक गुण विकसित करता है, एक वृहत् अन्तर्दृष्टि तथा उदारता प्रदर्शित करता है तो वह विश्व की न्यायपीठ पर बैठता है तथा एक आध्यात्मिक एवं सामाजिक कायाकल्प आरम्भ करता है, और तब हम कहते हैं कि धर्म की रक्षा तथा अधर्म का नाश करने तथा एक धर्मपरायण राज्य की स्थापना के लिए ईश्वर का अवतार हुआ है। अवसर व्यक्ति के आध्यात्मिक संसाधनों तथा गुप्त देवत्व का प्रदर्शन है। यह दैवी प्रभुत्व का मानव-संरचना की सीमाओं में संकुचन नहीं बल्कि मानव-स्वभाव के दैवी शक्ति के साथ संयोजन द्वारा दिव्य स्तर तक उठ जाना है।"

फिर भी, अवतार का विचार राधाकृष्णन ने त्यागा नहीं है। वे उसे देह में परमांश के रूप में देखते हैं—एक अन्तर्वर्ती प्रदीप्ति स्वरूप जब 'अन्तर्निहित मानव चेतना अजन्मा और अनन्त तक ऊपर उठ जाती है।' यह ऐसा है, जैसे ईश्वर ने हमारे उर्वर शरीर में आने तथा अपना लक्ष्य निर्देशित करने के लिए हमें चुना हो। और यदि आकांक्षी व्यक्ति सचेत, जिज्ञासु तथा पूर्ण आस्था रखे तो ईश्वर

उसे निर्देशित करने में असफल नहीं होता। इसी तरह राधाकृष्णन 'माया' का अर्थ 'माया' (इल्यूशन) ही लगाने के विरुद्ध आगाह करते हैं। माया तो केवल एक 'भ्रम' है!

> "संसार माया नहीं है, यद्यपि हम इसे ईश्वर से असम्बद्ध प्रकृति की एक यांत्रिक अवधारणा मानते हुए (या मानकर) इसके दैवी सारतत्त्व को समझने में असफल रहे हैं। अतः यह एक भ्रान्ति का स्रोत बन गयी है।"

एक आधुनिक व्यक्ति द्वारा प्राचीन धर्मग्रन्थ के विवेचन करने का प्रमुख कारण यह है कि वह इस दुनिया में सम्मान सहित तथा उपयुक्त सोद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए मदद चाहता है। एक भग्न कल्पना यथार्थ को सही रूप में समझ सकती है, परन्तु एक भग्न अस्तित्व पर विजय पाने के लिए निर्देशक स्वरूप इसका कोई उपयोग नहीं है। जैसा कि राधाकृष्णन कहते हैं, मनुष्य जिस समस्या से जूझ रहा है, वह है उसके 'व्यक्तित्व का एकीकरण' और इसे देहात्मा की सद्भावनापूर्ण एकता में रखना उनके अनुसार गीता देह और आत्मा को परम (सत्ता) के दो पहलू मानती है। आत्मा की पुष्टि के लिए देह को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान और समर्पण के मार्ग, जैसा कि गीता में वर्णित हैं, बड़ी स्पष्टता से हमारे सामने आते हैं। परन्तु यह तो राधाकृष्णन की क्रिया का मार्ग है, जो हमें आकर्षित करता है और शायद इसलिए कि वे इसे ठीक से सन्दर्भित करने में सक्षम हैं। जो भी तात्त्विक सूत्र कृष्ण के उपदेश में निहित हैं, वह (उपदेशात्मक) दृश्य हमारे हृदय में गहरे तक चित्रित है और वह यह कि विषादग्रस्त अर्जुन की समस्या को कृष्ण का निर्देशन किस तरह हल करता है। कृष्ण (उपदेशक) जगत् को माया मानकर उसे अस्वीकार नहीं करते, और न ही वे इस कार्य की एक आवश्यक बुराई के रूप में निन्दा ही करते हैं :

> "वे जगत् में व्यक्ति के सम्पूर्ण सक्रिय जीवन को मान्यता देते हैं, जिसमें शाश्वत आत्मा और उसका आन्तरिक जीवन निहित है। अतः गीता कर्म में जुटे रहने का आदेश पत्र है वह यह बताती है कि सामाजिक होने के नाते व्यक्ति को क्या करना चाहिए, बल्कि एक आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति के रूप में उसका कर्तव्य क्या है। जीवात्मा के त्याग की तरह लोगों की आनुष्ठानिक धर्मनिष्ठा का भी निष्पक्ष विवेचन करती है, जो इसकी आचार संहिता में सम्पन्न किये जाते हैं।"

आधुनिक चिन्तन के अनुरूप राधाकृष्णन हमें यह कहकर आश्वस्त करते हैं कि 'गीता कहती है संसार में रहो और इसे सुरक्षित रखो।' विनाश लीला के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि संक्रमण-काल में कोई भी इसमें भाग लेने से नहीं बच

सकता। जब तक कोई इसके परिणामों से स्वयं को असम्पृक्त रख सकता है, साथ ही ईश्वर के प्रति समर्पण को भी क़ायम रख सकता है, तब तक वह एक 'स्थायी सन्यासी' बना रह सकता है। शंकर भी व्यावहारिक कार्य तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के बीच कोई विरोधाभास नहीं पाते।

जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न को राधाकृष्णन भविष्य पर छोड़ देना पसन्द करते हैं। परम को वे एक 'आनन्दमाया' चेतना स्वरूप नहीं मानते, जो कि हमारा लक्ष्य है। संभवतः यह विकास, अथवा नये ब्रह्माण्ड की सृष्टि, अथवा परम पुरुष अगला पद होगा इसे कौन जानता है?

जब ब्रह्माण्ड का उद्देश्य पूरा हो जाता है, जब ईश्वरीय राज्य स्थापित हो जाता है, जब स्वर्ग की भाँति यह पृथ्वी पर भी आ जाता है, जब सभी व्यक्ति आत्म-विवेक प्राप्त कर लेते हैं और उन स्तरों से ऊपर उठ जाते हैं जिनमें कि जन्म और मृत्यु घटित होते हैं, तो यह ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया वह समझी जाती है, जो सभी अभिव्यक्तियों के परे है।

हालाँकि राधाकृष्णन की *गीता* को प्रकाशित हुए चार दशक बीत चुके हैं, फिर भी यह प्रभावशाली अनुवाद, रेखांकित टिप्पणियों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के उद्धरणों के कारण आज भी लोकप्रिय बना हुआ है। इसके चिन्तन की लड़ियाँ विस्मयकारी हैं। उदाहरणार्थ, अध्याय दो की ग्यारहवीं पंक्ति हमारे समक्ष एक युद्ध संत्रास के परिदृश्य जैसा कथानक उपस्थित करती है : "जीवन की बदलती हुई नियति में यह कोई वास्तविक व्यक्ति या आन्तरिक आत्मा नहीं है, जो शोक और दुख व्यक्त करती है, बल्कि मनुष्य की मृग-मरीचिका (मोहभ्रम) है, बाह्य व्यक्ति, जो विश्व पटल पर अपनी भूमिका निभा रहा है।"

राधाकृष्णन भी *गीता* को अन्य पाठकों की भाँति दैवी रूप में देखते हैं। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण विश्वरूप-दर्शन में मिलता है, जब कृष्ण ब्रह्माण्डवत् हो जाते हैं। *गीता* आश्चर्यजनक घटना का चित्रण करते हुए उसे रंजित करती है, जबकि राधाकृष्णन का सांकेतिक वाक्य हमारे कानों में पड़ता है : "दिव्य दर्शन कोई मिथक या अनुश्रुति नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक अनुभव है।" परन्तु यहाँ पश्चिमी श्रोता-दर्शक के पक्ष-पोषण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे पाश्चात्य धार्मिक अनुभव के इतिहास में इस तरह की घटनाओं का अविलम्ब ज़िक्र करने लगते हैं : "जीसस का कायाकल्प दमस्कस रोड पर सॉल का दर्शन (विज़न) 'इन दिस साइन कान्क्वर' (इस प्रतीक में विजय) की कहावत लिये हुए क्रॉस पर कांस्टेंटाइन का दृश्य, तथा जान ऑफ़ आर्क का दर्शन (विज़न) ये सभी अनुभव अर्जुन के अन्तर्ज्ञान (विज़न) जैसे हैं।"

इस दृश्य (विज़न) की तुलना एक गूढ़ (रहस्यमय) अनुभव से करते हुए

राधाकृष्णन कहते हैं कि ऐसे अनुभव मात्र सहायक हैं, लक्ष्य नहीं है। इन अनुभवों का प्रयोग एक स्थायी विश्वास को प्राप्त करने तथा अपना व्यक्तित्व रूपान्तरित करने में किया जाना चाहिए। यह विश्वास सर्वोच्च सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण का आन्दोलन है। राधाकृष्णन द्वारा की गई चरम श्लोक (अध्याय 18, 60) की व्याख्या हमें अनुग्रह के सिद्धान्त का विशिष्ट स्मरण कराती है। विना वाहरी सहायता या कृपा के मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। न तो मात्र ज्ञान से और न ही क्रिया से :

> "यह सर्वोच्च सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण है, जो हमें ऊर्ध्व में ले जाता है तथा हमें हमारी सम्भव पूर्णता तक ऊपर उठाता है। यद्यपि वह मालिक (प्रभु) विश्व का संचालन सुनिश्चित नियमों के अनुसार करता है और हमसे अपेक्षा रखता है कि हम अपनी प्रकृति तथा जीवनावस्था पर आधारित न्यायपूर्ण कर्म-सिद्धान्तों का पालन करें पर यदि हम उसमें आश्रय लेते हैं तो हम इन सवसे परे हो जाते हैं। प्रतीयमानतः व्यक्ति को वाह्य सहायता मिलनी चाहिए, क्योंकि उसकी आत्मा स्वयं को उस वन्धन से मुक्त नहीं कर सकती, जिसमें वह स्वयं और सायास फँस गई है। जब हम निःशब्द भाव से ईश्वर का सान्निध्य (दर्शन या भेंट) प्राप्त करते हैं तथा अपने ऊपर केवल उसी का नियंत्रण चाहते हैं, तो सहायता मिलती है।"

राधाकृष्णन की सुवोध तथा प्रामाणिक व्याख्या कभी-कभी अनेक वाह्य उद्धरणों (एवलिन अण्डरहिल, वाइविल, वर्ड्सवर्थ) से भी मदद लेती है, जिससे व्यक्ति को संयोगवश रहस्यवादी संग्रह का भी अनुभव होने लगता है। ऐसा नहीं कि वे एक साहित्य-संचालक थे, अपितु हिन्दू वेदान्त वहुत व्यापक था तथा दशकों पूर्व भारतीय दर्शन में उनके शैली-प्रवाह को, जिसका पश्चिमी श्रोता ने स्वागत किया, एक अच्छी तथा सरल व्याख्या देना कठिन था। लेकिन उद्धरणपूर्ण इस व्याख्या ने विषय को कभी धुँधला नहीं किया। उनके हाथों में (धर्म) ग्रन्थ वैचारिक भव्यताओं के रूप में सजीव हो उठे तथा सामान्य व्यक्ति की समझ को वढ़ाने के लिए सरलीकृत हो गये। यद्यपि यह विश्लेषण दार्शनिक है, किन्तु धर्मग्रन्थ की व्यापक उपयोगिता के कारण राधाकृष्णन का ध्यान हमारी स्थिति की ओर सदैव आकृष्ट हुआ। *गीता* निस्संदेह परम (सत्ता) की आराधना का ग्रन्थ है, परन्तु यह मानव-एकता की अनुभूति के लिए एक व्यावहारिक आचार संहिता भी है :

> "हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व के असीम आधार पर स्थित स्वतंत्र आत्मा, शाश्वत व्यक्ति इस लोक के लिए कार्य करता है, शरीर, जीवन तथा मस्तिष्क की

वैयक्तिकता को धारण करते हुए भी वह आत्मा की सार्वभौमिकता बनाये रखता है। वह जो कुछ भी कार्य करता है (या करे), परम (सत्ता) के साथ उसकी घनिष्ठता बाधित नहीं होती।"

गीता का अनुकरण करके व्यक्ति सर्वशक्तिमान के पथ-प्रदर्शक व्यक्तित्व में परिवर्तित हो सकता है, उसकी प्रकृति दैवी हो सकती है तथा वह स्वयं को मृत्युलोक की प्रकृति के दिव्य रूपांतरण में लगा सकता है। यह वास्तविक स्वतंत्रता है :

"उसकी समग्र प्रकृति सार्वभौम दृश्य (विज़न) से शान्त है, गौरवपूर्ण ढंग से गढ़ी हुई है तथा आध्यात्मिक प्रकाश से प्रदीप्त है। उसका जीवन, शरीर तथा मस्तिष्क विभाजित नहीं है, बल्कि विशुद्ध रूप से प्रस्तुत है तथा दैवी प्रकाश के स्वभाव और साधन बन गये हैं, और वह स्वयं अपनी उत्कृष्ट कलाकृति बन गया है। उसका व्यक्तित्व अपनी पूर्णता, अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति, पवित्र तथा स्वतंत्र प्रफुल्ल तथा भार मुक्तता की स्थिति तक पहुँच जाता है। उसकी समस्त गतिविधियाँ जगत् को एक साथ रखने के लिए होती हैं। मुक्त आत्माएँ अपने ऊपर समस्त विश्व की मुक्ति का भार ले लेती हैं।'

राधाकृष्णन ने गीता के इस आदर्श को बुद्ध के व्यक्तित्व में पाया। *'इण्डियन फिलॉसाफ़ी' (भारतीय दर्शन)* में बौद्ध धर्म के विषय में विस्तार से लिखने तथा ब्रिटिश अकादेमी में व्याख्यान के लिए एक विषय के रूप में बुद्ध का चयन करने के बावजूद राधाकृष्णन ने विस्तृत प्रस्तावना और टिप्पणियों के साथ *धम्मपद* का एक संस्करण भी प्रकाशित किया।

परम्परागत रूप से भारतीय शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ राधाकृष्णन ने तीन धर्म ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी के रूप में ज्ञात—*ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा उपनिषद्*) की व्याख्या का चुनौतीपूर्ण कार्य किया। इस संदर्भ में शंकर, रामानुज तथा मध्वाचार्य सरलता से हमारे ध्यान में आते हैं।

हमारे अपने ही समय में राधाकृष्णन ने इस त्रयी विद्वता को प्राप्त कर लिया था। उनके *भारतीय दर्शन* के 150 से भी अधिक पृष्ठ उपनिषदों पर लिखे गये हैं। 1953 में प्रकाशित *द प्रिंसिपल उपनिषद्स* (प्रमुख उपनिषद्) हमारे सामने एक विस्तृत परिचय प्रस्तुत करता है और इन धर्मग्रन्थों का गुणगान करते हुए कहता है कि एक सार्वभौम दृष्टि प्राप्त करने के लिए इनका ज्ञान अपरिहार्य है। ऐतिहासिक सन्दर्भ पर सामान्य बल देते हुए, जो कि वेदों और वेदान्त विषयक वाद-विवाद में वेद-वेदान्तों के साथ स्थायी सान्निध्य की माँग करता है, राधाकृष्णन मूल ग्रन्थ पर अधिक बल देते हैं तथा स्वाभाविक रूप से अपने अनुवाद का पक्षपोषण करते हैं :

"शब्द विचार देते हैं, परन्तु वे सदा मनोदशाओं को अभिव्यक्त नहीं करते। उपनिषदों में हमं भाषण की एकता (सद्भावना) पाते हैं, जो भावनाओं को उत्तेजित तथा आत्मा को चलायमान करती है। मेरे लिए यह सम्भव नहीं रहा कि लय की समृद्धि, आत्मा की तीव्रता तथा सम्मोहन की शक्ति को जो कानों, हृदय तथा मस्तिष्क को प्रिय लगती है, अंग्रेज़ी अनुवाद में प्रस्तुत कर सकूँ। मैंने मूल (ग्रन्थों) के प्रति निष्ठावान होने का प्रयत्न किया है, यहाँ तक कि कभी-कभी चारुता के मूल्य पर भी। मैंने ग्रन्थों को उनकी समस्त ध्वनि-श्रेष्ठता तथा दैवी अनुभूति के साथ प्रस्तुत किया है।"

परन्तु राधाकृष्णन अपने विषय में पूर्ण हैं तथा उनके पास भाषा की सच्ची समझदारी है। हम कोई शिकायत नहीं कर सकते, बल्कि वास्तव में तो हम उनकी अंग्रेज़ी की स्थिरतालिका में अंकित कर लिये गये हैं, जो कि कठिन परिच्छेदों को उदार व्याख्याओं से सहज ही बोधगम्य बनाती है। पाश्चात्य पाठकों के लिए पाश्चात्य दर्शन से भी तुलनात्मक उद्धरण दिये गये हैं। इसी प्रकार जब वे *माण्डूक्य उपनिषद्* की ग्यारहवीं पंक्ति की व्याख्या करते हैं तो निःस्वप्न सुप्ति (प्रज्ञा) की चर्चा सामने आती है :

"परमेनिड्स, प्लेटो तथा हीगेल ने जो कल्पना की थी कि अस्तित्व तथा अनस्तित्व का विरोध सात्विक दृष्टिकोण से एक मौलिक द्वैत है, यह पंक्ति इसकी पुष्टि करती है। अस्वीकरण जिसे अस्वीकृत करता है, उसकी पूर्व कल्पना भी करता है। यद्यपि अस्तित्व अनस्तित्व का पूर्ववर्ती है, स्वयं अस्तित्व की भी कल्पना बिना विरोध के नहीं की जा सकती। अस्तित्व कभी भी अस्तित्व नहीं रह सकता, जब तक कि अनस्तित्व उसका विरोध नहीं करता। परन्तु कुछ ऐसी चीज़ है जो सत्ता (अस्तित्व) तथा असत्ता (अनस्तित्व) के विरोध की भी पूर्ववर्ती है और वह है एकता (यूनिटी) जो दोनों को पीछे छोड़ जाती है।"

दूसरी पंक्ति हमें लाओत्से के ताओ तथा प्लोटिनस के एनीड्स से परिचित कराती है। उपर्युक्त सभी व्याख्याएँ धार्मिक तथा दार्शनिक मामलों में राधाकृष्णन की व्याप्क सहिष्णुता का संकेत करती हैं। निश्चय ही सार्वभौम की और उनमें एक सहज आकर्षण था---एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (सत्य एक है, पण्डित लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।) *भगवद्गीता, धम्मपद* तथा *उपनिषद्* वास्तविक जीवन के मामलों में बहुरंगी पृष्ठपट रखते हैं और राधाकृष्णन ने इनकी उपेक्षा नहीं की। महाभारत का युद्ध, बुद्ध का निर्वाण, तथा अतिप्राकृत विभूतियाँ—जैसे

उद्दालक आरुणि, तथा रैक्व—उनके यहाँ अपेक्षित भाव-भूमि उपलब्ध कराते हैं। यद्यपि *ब्रह्मसूत्र* का ऐसा लाभ नहीं है। उसके 555 सूत्र बिलकुल गूढ़ हैं, जैसा कि राधाकृष्णन *इण्डियन फ़िलॉसॉफी' (भारतीय दर्शन)* में कहते हैं :

> "वे किसी भी निश्चित आकार में प्राप्त नहीं होते उनकी शिक्षा का विवेचन कभी-कभी दैववाद के चमकीले रंगों में किया जाता है और कभी-कभी परम के अस्पष्ट अमूर्तन में।"

परन्तु राधाकृष्णन जानते हैं कि प्रारम्भ में पाठक का ध्यान कैसे आकृष्ट किया जाय। *'ब्रह्मसूत्र : द फिलॉसाफ़ी आन स्पिरिचुअल लाइफ़' (ब्रह्मसूत्र : आध्यात्मिक जीवन-दर्शन,* 1960) का प्राक्कथन तात्त्विक चिन्तन को व्यक्ति के दैनन्दिन जीवन से जोड़ता है। दर्शन—किसी हद तक भारतीय दर्शन—कभी भी मात्र अकादमिक अभ्यास नहीं हो सकता :

> "यह पुस्तक विशुद्ध रूप से पण्डित्यपूर्ण विचारों की प्रस्तुति नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण तर्कों तथा प्रत्यक्ष ऐतिहासिक स्थिति के दवाव में से विकसित हुई है। हम मानव-इतिहास के महान संकट के केन्द्र में हैं, भय, चिन्ता तथा अन्धकार से वाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ रहे हैं, और एक नये प्रतिमान की खोज में भ्रमण कर रहे हैं, ताकि हम आगे अपना जीवन आरम्भ कर सकें।"

इस नयी शुरूआत के लिए हमें धर्म, नीतिशास्त्र तथा आध्यात्मिकता के साधनों को साथ रखने की ज़रूरत है। इस सन्दर्भ में संसार ने एक समृद्ध कोष का संग्रह किया है। यद्यपि इसका एक ख़ासा भाग फ़ालतू या निरर्थक हो गया है, फिर भी हमारी पारम्परिक संस्कृति में कुछ प्रारम्भिक विचार हैं जो हमारे भावी पथ-प्रदर्शन में वहुत उपयोगी हो सकते हैं। जीवन-दर्शन के निर्माण में *गीता* और *उपनिषद्* के साथ *ब्रह्मसूत्र* भी महत्त्व रखता है। "ये ग्रन्थ न केवल ऐतिहासिक अतीत के साथ वँधे हुए हैं, वल्कि वर्तमान में भी एक सजीव शक्ति हैं।"

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविज्ञान संवंधी व्यापक विवेचन को राधाकृष्णन वहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। आधुनिक विज्ञान ने इन पुरातन विचारों को विस्थापित कर दिया है। परन्तु ब्रह्मसूत्रों में रेखांकित दर्शन के मूलभूत प्रश्नों पर मौजूद अभिकथनों को समय ने कालांकित (पुराना) नहीं किया है। व्यक्ति के निजी जीवनानुभव की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए ये सूत्र 'ब्राह्मण' की प्रकृति तथा चरम यथार्थ के लिए हमारी खोज में महत्त्वपूर्ण आरम्भ-विन्दु उपलब्ध करायेंगे। अतः दार्शनिक भाष्य कोई निरर्थक लक्ष्य नहीं है।

नायकीय धीरता के साथ राधाकृष्णन एक के बाद एक वाक्य उठाते हैं तथा पौर्वात्य टिप्पणियों (महान् आचार्यों, जैसे शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभ, श्रीपथी, विज्ञान-भिक्षु तथा अन्य से) का सारांश पश्चिमी दार्शनिकों, जैसे बर्गसां तथा सैमुअल अलेक्ज़ेण्डर के विचारों से तुलना करते हुए देते हैं। वे आसानी से पूरब का पक्ष नहीं लेते, वल्कि यह स्पष्ट करते हैं कि हम विकासमान कुंडलित की ओर गतिमान हैं, जैसा कि द्वितीय सूत्र—जन्माद्यास्यातह—द्वारा बताया गया है। राधाकृष्णन जव अपने पक्ष पर वोलते हैं तो वे स्वस्थ तथा आशाजनक वात कहते हैं :

> "जगत् कोई चिरस्थायी पुनरावृत्ति नहीं है, वल्कि पूर्णता की ओर से पूर्णताकारी प्रक्रिया है। यह परिवर्तित होगी, और यदि हम वुद्धिमान हैं तो अच्छे परिवर्तन को लायेगी तथा जगत् की शक्तियाँ हमारा समर्थन करेंगी। भविष्य मुक्त है। यदि हम महाविपदा का सामना करते हैं तो भ्रम एवं निराशा की शुरूआत करते हैं। गोइथे ने एक वार लिखा था—वह व्यक्ति जो निराशा के प्रति अयोग्य है, उसे जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है—हमें डर है कि मानवजाति स्वयं को नष्ट कर देगी। इसके विषय में कोई अपरिहार्यता नहीं है। अव यह एक परिवार (कुल) हो जायेगी। प्रकृति तथा ईश्वर के नियमों के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करो, और अन्धकार, जिसमें कि आज हम हैं, एक अग्रदूत है, मृत्यु का नहीं, वल्कि एक नये युग के उषा-काल का।"

'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्र 'ब्राह्मण' के वेद-स्रोत होने की घोषणा करता है। परंपरागत विचार यह है कि वेदों का चित्रण मानवजाति द्वारा नहीं किया गया, वल्कि उनका उद्घाटन तो परम (ईश्वर) के द्वारा ऋषियों के लिए किया गया था। शंकर मानते हैं कि यहाँ 'शास्त्र' शव्द से अभिप्राय सभी धर्मग्रन्थों से है। वैज्ञानिक युग में रहते हुए, निस्सन्देह, अव हम यही कहते नहीं रह सकते कि धर्मग्रन्थों का प्रणयन मनुष्य जाति ने नहीं किया था। यह वह समय है जव हम स्वयं धर्मग्रन्थों की ही प्रामाणिकता पर प्रश्न कर सकते हैं और यदि कोई इस पर वल देता है कि धर्मग्रन्थ ईश्वर के अमोघ (भ्रमातीत) शव्द हैं, तो हम इस पर सन्देह कर सकते हैं। परिवर्तित परिदृश्य को स्वीकारने तथा 'मालिक' (गॉड) शव्द की समीक्षा करने की वजाय प्रायः हम वैज्ञानिक तर्क के विरुद्ध ही दृष्टिकोण रखते हैं। 'आधुनिक ज्ञान और आलोचना के प्रहारों से अशान्त होकर कुछ लोगों ने रूढ़िवाद (फ़ंडामेंटलिज़्म) का आश्रय लेना चाहा है। रूढ़िवाद, अर्थात् एक पूर्ण मौखिक प्रेरणा का निष्कपट अभिमत (दावा), जो कि उस समस्त आधुनिक ज्ञान का पूर्ण नकार (अस्वीकरण) लिये

हुए है, जिसने धर्मग्रन्थों को सही ढंग से समझने में सहयोग दिया है।'

राधाकृष्णन के अनुसार, शंकर उचित ही मानते हैं कि धर्मग्रन्थ 'मनीषियों के प्रत्यक्ष अनुभवों के प्रमाण हैं, जो कि स्वतः प्रमाणित चरित्र हैं।' यद्यपि ईश्वरानुभूति का शब्दों से समुचित वर्णन किया जा सकता है। उनके लिए जो कि तीक्ष्ण बुद्धि हैं, यह संभव है कि ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकें। पर तब उन्हें, जो धर्मग्रन्थों में विशुद्ध श्रद्धा रखते हैं, ईश्वर की अनुभूति होती है, हालाँकि वे तब भी विज्ञान की अन्वेषक आत्मा (चाह) से अलगाव महसूस नहीं करते :

> "आस्था में हम अपने हृदयों पर विश्वास करते हैं, जबकि विज्ञान में अपने मस्तिष्कों पर। परन्तु 'आस्था' (फ़ेथ) शब्द का एक अन्य अर्थ है। यह प्रमाण अथवा अनुभव के बिना सत्ता की स्वीकृति मात्र नहीं है बल्कि सम्पूर्ण व्यक्ति की प्रतिक्रिया है जिसमें विवेकपूर्ण सहमति तथा इच्छा-शक्ति भी शामिल है। आस्था के व्यक्ति शक्ति (सत्ता) के व्यक्ति हैं, जिन्होंने सत्य को आत्मसात् कर लिया है तथा इसे सृजनात्मक तत्त्व में मिला लिया है। ईश्वर जीवन और ज्योति बन जाता है, जिससे वे अपना कार्य करते हैं, हमारी दुर्बल शक्ति के पास सशक्त शक्ति रहने लगती हैं ईश्वर उस आन्तरिक तत्त्व का नाम है जो हमारी सत्ता के उच्चतम केन्द्र का निर्माण करते हुए हमें उस ओर बढ़ाता है।"

इसी भाँति, सूत्रों की अवधारणा के लिए राधाकृष्णन एक भविष्यकालीन संकेत प्रदान करते हैं। हम स्पष्ट रूप से मानव विकास के एक धुँधले काल में फँसे हुए हैं, जहाँ हमारे सभी सवालों का जवाब विज्ञान नहीं दे सकता। बहुत समय पहले जब मनुष्य ऐसे ही काल से गुज़र रहा था, तो बादरायण ने अपने सूत्रों में यथार्थ के भिन्न विचारों को रखा था, जो कि उन्हें अपने समय में प्राप्त हुए थे। आधुनिक चिन्तकों की मतविभाजित दुनिया में वे सूत्र एक बार फिर अपनी भूमिका निभा सकते हैं। भारतीय धर्मग्रन्थों की राधाकृष्णन द्वारा की गई व्याख्या परम्परागत समीक्षाओं की कठिन पुनरावृत्ति नहीं है, बल्कि रूढ़िवाद और सिर्फ़ बुद्धिवाद की अस्वीकृति है :

> "समन्वय अथवा मध्यस्थता हमारे युग की आवश्यकता हैं।' सार्वभौमिक, सर्वव्यापक परिवर्तन घटित हो रहे मानव समाज की संरचना में कुछ नवीनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, यद्यपि ये इतिहास के सामान्य क्रम (विषय) से अलग नहीं हैं। विश्व समुदाय (जिसका कि हम सामना करते हैं) का परिपोषण केवल सामूहिक विचारों एवं आदर्शों से ही हो सकता है। चरम आध्यात्मिक

लक्ष्यों के लिए हमें राजनीतिक तथा आर्थिक-दुर्व्यवस्थाओं से परे देखना होगा। हमें एक नये प्रकार का व्यक्ति गढ़ना होगा, जो अपनी नई जागरूकता से बनाये गये उपकरणों का प्रयोग करता है तथा प्राकृतिक प्रभुत्व की अपेक्षा वस्तुनिर्माण में अधिक सक्षम है।"

6

धर्म के व्याख्याता

एक रूढ़िवादी परिवार में जन्म लेने के कारण धार्मिक जीवन का संस्कार राधाकृष्णन को बचपन से ही सहज रूप में मिला। छात्र के रूप में उन्हें ईसाइयत (क्रिश्चियनिटी) का सामना करना पड़ा और यह उनके लिए एक निश्चित चुनौती बनी। इससे उनको अपनी एक व्यवस्थित आधार भूमि प्राप्त करने में आसानी हुई। वे न तो हिन्दू पुराणपन्थ की ओर पीछे मुड़े और न ही मिशनरी शैली से अभिभूत हुए, बल्कि दोनों से आगे बढ़े और शीघ्र ही आधुनिक व्यक्तित्व के लिए पूर्वी पश्चिमी धर्मों के उत्कृष्टतम व्याख्याताओं में से एक बन गये। मतान्धता तो उनके शब्दकोष में थी ही नहीं। एक शुद्ध हिन्दू तथा शंकर का प्रशंसक राधाकृष्णन अब सार्वभौम धर्म का प्रतिपादक बन चुका था। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ, क्योंकि हिन्दू धर्म का सार उनमें प्रारम्भिक आयु में ही प्रदीप्त हो गया था :

> "मेरी धार्मिक बुद्धि मुझे अनुमति नहीं देती कि मैं कोई भी अविवेकी अथवा अपवित्र शब्द बोलूँ, जिसे कि मनुष्य की आत्मा नियंत्रित करती है अथवा पवित्र रूप में धारण करती है। सभी मतों के प्रति आदर का यह दृष्टिकोण, आत्मा के विषय में यह प्राथमिक कल्याणमयी शैली हिन्दू परम्परा तथा शताब्दियों के अनुभव सहित व्यक्ति की अस्थि-मज्जा में अन्तर्निहित है। धार्मिक सहिष्णुता हिन्दू संस्कृति को इसके आरम्भ से ही प्रकट करती है। प्रसिद्ध हिन्दू धर्म-ग्रन्थ *भगवद्गीता* स्पष्ट करती है कि यदि कोई व्यक्ति किन्हीं अन्य देवताओं के प्रति आस्था और समर्पण-भाव रखता है तो यह आस्था और समर्पण सर्वोच्च सत्ता के प्रति ही है, भले ही वह निर्धारित राह में न हो। धर्म का लक्ष्य ईश्वर का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना ही है।"

मौलिक रूप से धर्मनिरपेक्ष रहते हुए वे किसी भी धर्म को समान आदर के साथ समझ सकते थे तथा उसकी प्रशंसा या पक्षपोषण कर सकते थे। वे अन्य धर्मों की आलोचना के प्रति उदासीन रहते थे तथा हिन्दू धर्म की तार्किक आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे। वास्तव में जब वे क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ रहे

थे तव ए.जी.हॉग द्वारा स्नातकोत्तर कक्षाओं में दिये गये नीतिशास्त्र सम्बन्धी व्याख्यानों से राधाकृष्णन को यह प्रेरणा मिली कि वे अपने मातृ-धर्म का सजगता तथा आलोचनात्मक ढंग से परीक्षण करें। निश्चय ही वह धर्म नहीं था, जिसने राष्ट्र को राजनीतिक रूप से निष्प्रभ बनाया। वार्नेट के हिन्दू धर्म, विन्टरनित्ज़ के *भगवद्गीता* और अभेदानन्द के वेदान्त विषयक व्याख्यानों से उन्हें अपने उत्तराधिकार की शक्ति का आभास हुआ।

यही कारण है कि उन्होंने शीघ्र ही अपने लघु शोध-प्रबन्ध के लिए यह शीर्षक चुना : "वेदान्त का आचार शास्त्र तथा इसकी तात्त्विक पूर्वकल्पनाएँ" (द इथिक्स ऑफ़ वेदान्त एण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल प्रीसपोजीशंस) सर्वपल्ली गोपाल ने यह कहा है कि विषय का यह चुनाव उनके प्रथम श्रेणी परिणाम को प्रभावित कर सकता था, लेकिन डॉ. गोपाल ने क्रिश्चियन कॉलेज के एक अन्य शिक्षक विलियम मेस्टन का मत भी उद्धृत किया है :

> "उसने सुस्पष्ट चिन्तन शक्ति का परिचय दिया है। निर्णय की स्वतंत्रता तथा पढ़े गये विषय की पूर्ण तथा शीघ्र आत्मसातीकरण की क्षमता उसे उच्च बौद्धिक सुझाव तथा लब्धिप्राप्त व्यक्तियों की श्रेणी में स्थान दिलाती है। जो कुछ भी वह व्यक्त करता है, वह उसके निजी मानसिक यंत्र से निकलकर आता है, अपरिपक्व विचार के लिए उसमें कोई जगह नहीं है।"

यह कोई अचरज की बात नहीं कि कॉलेज के शिक्षक राधाकृष्णन की साहसिकता से पूरी तरह सन्तुष्ट थे। उन्होंने यह भी कहा कि वह कोई पुराणपन्थी प्रतिक्रियावादी नहीं हैं। उसी साहसिकता से, जो कि एक क्रिश्चियन कॉलेज में शोध-प्रबन्ध के लिए हिन्दू विषय के चयन में देखी गई थी, राधाकृष्णन ने ईसाई मिशनरियों द्वारा गिनायी गई हिन्दू धर्म की व्यावहारिक बुराइयों को भी स्वीकार किया। उन्होंने रूढ़िवादी पुरोहितों को नफ़रत से देखा तथा कहा—"विश्व में अधिकांश बुराइयाँ (युद्ध, धार्मिक उत्पीड़न, नर संहार, आगजनी, प्रताड़ना) इसी पुरोहितवाद के कारण फैली हुई हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह एक सार्वभौम परिघटना है।"

राधाकृष्णन की राय में, यदि हम अन्धविश्वास के जर्जर पर्दों को उठा दें जो कि हिन्दू धर्म को ढके हुए हैं, तो हम नीतिशास्त्र के सृजनात्मक विज्ञान के बराबर आ सकते हैं, क्योंकि वही व्यक्ति को उसकी पूर्णता की राह में लगाता है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के प्रति श्रद्धा का वास्तविक अर्थ है मानवजाति के प्रति श्रद्धा। डॉ. गोपाल के सारगर्भित शब्दों में :

> "मोक्ष तथा धर्माचरण, धर्म (रिलिजन) के दो ध्रुव थे। विवेक और प्रेम, परम में अन्तर्दृष्टि तथा अन्य मानवजातियों के साथ मैत्री के साथ-साथ व्यवहृत

होना था। ईश्वर के प्रति श्रद्धा मानव जाति का आदर करना था। असफलता, असहमति, निश्चित अस्तित्व की दुर्बलता तथा रहस्यवादी चेतना आत्मा के एकाकीपन में प्रवेश करने को प्रवृत्त थी, परन्तु ऐसे बचाव से धर्म को स्वयं व्यापक विषय-वस्तु से अलग हो जाने का ख़तरा था।"

तथापि हिन्दू धर्म की सहजात शक्ति की मान्यता का मतलब यह नहीं है कि उस अर्थ में किसी अन्य धर्म या ईसाइयत को अस्वीकृत कर दिया जाय, हालाँकि उन्होंने क्राइस्ट की विलक्षणता को स्वीकार नहीं किया। राधाकृष्णन ने स्वयं को पन्थगत बन्धनों से आगे बढ़ाते हुए जीवन के लिए मूलभूत धर्म के सार तत्त्व प्रतीक तक पहुँचाया। उदाहरणार्थ, 1921 में इंग्लैण्ड के बिशप ने महात्मा गाँधी के अहिंसा-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि यह (सिद्धान्त) जीसस के उपदेशों का अशुद्ध प्रदर्शन है। इस पर राधाकृष्णन ने अपनी घोर तथा निन्दात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की। उनहोंने कहा कि वह गाँधी ही थे जिन्होंने क्राइस्ट (मसीह) की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधित्व किया, न कि इन धार्मिक प्रमुखों ने जिन्होंने ईसाइयत को प्रदर्शित किया और साथ ही साम्राज्यवादी तथा मानवजाति के शोषक बने रहे।"

चिन्तक राधाकृष्णन ने पाया कि धार्मिक अनुभूति उत्सर्जनीय नहीं है, यहाँ तक कि तकनीकी युग में भी। वास्तव में आधुनिक व्यक्ति के लिए आत्मघाती भ्रान्ति से बाहर निकलने के लिए धर्म और भी आवश्यक हो गया था। धर्म में यह भी क्षमता थी कि वह व्यक्ति को एक आशाजनक भविष्य-निर्माण के लिए प्रेरित कर सके। उन्होंने पाया कि प्रत्येक धर्म ने ऐसी अपेक्षित प्रेरणा की सार्वभौम समृद्धि में अपनी भूमिका निभायी है। हालाँकि एक दार्शनिक लेखक के रूप में उनकी व्यापक ख्याति थी। 'धर्म' उनके लेखन में सांकेतिक शब्द ही था। उन्हें शीघ्र ही अपने विषय पर लौटना था और इस विषय पर उनकी प्रारम्भिक कृति है, *द रीन आव रिलीजन इन कन्टेम्पटरी फ़िलॉसॉफ़ी* (समसामयिक दर्शन में धर्म का शासन।)

1920 में प्रकाशित इस कृति ने धार्मिक अनुभूति को उच्च महत्त्व दिया। राधाकृष्णन ने उस शैली को स्वीकार नहीं किया, जिसमें ईसाइयत को तेज़ी से उभारा जा रहा था और दैनिक जीवन में व्यक्ति अपने धर्म से अपरिचित होते जा रहे थे। उस से भारत को कोई ख़तरा नहीं था जिसने प्रजातीय चिन्तन को शुष्क बनाने वाले अन्धकार को रोकने के लिए समय-समय पर आध्यात्मिक नक्षत्रों को पैदा किया है। राधाकृष्णन भारतीय धर्म की उस प्रतिभा का उल्लेख करते हैं, जिसमें समय-समय पर संस्थानीकरण (इंस्टीट्यूशनलाइजेशन) की बेड़ियों को तोड़ना

पड़ा है, क्योंकि इसी से धार्मिक अनुभूति के स्रोतों को सुरक्षित या जीवित रखा जा सकता है तथा चरम यथार्थ तक पहुँचने की यात्रा में व्यक्ति को सृजनात्मक सहायता दी जा सकती है, जैसा कि वे *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) में कहते हैं :

> "जब भी कभी धर्म ने अपने को एक निश्चित मत में रूढ़ कर देना चाहा तभी आध्यात्मिक पुनरुत्थान तथा दार्शनिक प्रतिक्रिया हुई, आस्थाओं (विश्वासों) को आलोचना के खरल में डाला, सत्य का समर्थन किया और असत्य का विरोध किया। भविष्य में समय-समय पर हम देखते हैं कि कैसी कब परम्परा से स्वीकृत आस्थाएँ अपर्याप्त हुई हैं या अस्वीकृत कर दी गई हैं। परिवर्तित कालों, साथ ही धीरता के बीच से विकसित युग के फलस्वरूप एक नये शिक्षक की अन्तर्दृष्टि, जिसमें कि बुद्ध, महावीर, व्यास अथवा शंकर बीच-बीच में झलक उठते हैं, आध्यात्मिक जीवन की गहराई को और भी भावोत्तेजक बनाती है। निस्सन्देह ये भारतीय चिन्तन के इतिहास के महान क्षण हैं। आन्तरिक परीक्षण तथा दर्शन (विज़न) के ऐसे क्षण जो आत्मोच्छवास के आह्वान पर जहाँ कि ये सूचीवद्ध हैं वहीं से प्राण फूँकते हुए (और ये कहाँ से आ रहे हैं, कोई नहीं जानता) उठते हैं। निःसन्देह यहीं से मानव आत्मा एक नयी शुरुआत करती है तथा एक नये साहसिक कार्य की ओर जाती है। सत्य के दर्शन तथा लोगों के दैनिक जीवन के बीच यह घनिष्ठ सम्बन्ध ही है, जो धर्म को सदा जीवित तथा वास्तविक बनाता है।"

राधाकृष्णन ने बड़ी सावधानी से वैदिक काल में प्रचलित पैशाचिकी तथा गुप्तविद्या को किनारे रखा, तथा सच्ची धार्मिक अनुभूति तक पहुँचे, जो तर्क, तत्त्व-मीमांसा तथा काल-परीक्षण में टिक सके। उन्होंने उपनिषदों के धर्म को अपने निकटतम पाया। उदाहरणस्वरूप, औपनिषदिक मनीषियों ने परम्परावाद से परहेज़ किया तथा आत्मा की सन्देहशीलता और खोज को प्रोत्साहित किया। उन्होंने घोषित किया कि वह वेदान्तिक आत्मा धर्म है, जिसकी मुझे आज ज़रूरत है 1928 में अपनी एक प्रकाशित पुस्तक *द रिलिजन वी नीड* (धर्म, जिसकी हमें आवश्यकता है) में वे कहते हैं कि प्राकृतिक तथा अति प्राकृतिक नियमों के बीच कोई विभेद नहीं है जिस तरह ईश्वरीय सृष्टि एक शाश्वत प्रक्रिया है। अपनी तकनीकी प्रगति के बावजूद हमें स्वयं को समृद्ध बनाने के लिए धार्मिक अनुभूति की आवश्यकता है, स्वयं को आत्मघाती मोहभ्रम के कगार से बचाने के लिए हमें धार्मिक अनुभव की ज़रूरत है। इस बात को सिर्फ़ बौद्धिक कुतर्क, अथवा संस्थानीकृत, औपचारिक समारोहों के रूप में समझने की भूल नहीं करनी चाहिए :

"यह (धर्म) एक आध्यात्मिक (निश्चितता) है, जोकि दुख तथा आवश्यकता की घड़ी में हमें शक्ति तथा सान्त्वना प्रदान करता है। यह दृढ़ धारणा है कि प्रेम तथा न्याय ब्रह्माण्ड के हृदय में हैं, आत्मा जिसने मनुष्य को ऊपर उठाया, इसे पूर्णता तक पहुँचायेगी। यह 'विश्वास' है जो हमें मुग्ध करता है, यहाँ तक कि हमारी पराजय में भी। यह आश्वासन कि तट पर लहरें खण्डित भले हो जायें विजयी समुद्र ही होता है।"

यह विश्वास हमें भय, दासता तथा संकीर्णता से मुक्ति दिलाता है। यह धार्मिक विश्वास 'ध्यान' (मनन) तथा 'विनय' (आत्मानुशासन) के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता हैं इसे नैतिक धीरता के निरन्तर निपेचन से पुष्ट किया जा सकता है। यह किसी जादुई छड़ी द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। नहीं, जिस धर्म की मुझे आज ज़रूरत है उसके लिए कोई आसान मार्ग (शार्ट-कट) नहीं है। 'प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं को इतना आध्यात्मिक वनाने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह आत्मा के राज्य का उपयुक्त सदस्य बन सके।' जव ऐसी अपूर्व पूर्णता एक सार्वभौम परिघटना वन जाती है, तो समस्त व्यक्तियों (मनुष्यों) का भ्रातृत्व एक वास्तविकता वन जाता है। यही सच्चा दिव्य जीवन होगा। मानव एकता किसी अन्य आधार पर नहीं प्राप्त की जा सकती :

"इस पृथ्वी पर मानव एकता केवल सुदृढ़ धार्मिक आत्माओं द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, जिनकी देशभक्ति भूगोल अथवा इतिहास की सीमाओं को नहीं जानती, वल्कि जानती है तो केवल न्याय और सत्य, स्वतंत्रता तथा निष्पक्ष व्यवहार, ईश्वर तथा मानवता...। इतिहास में ऐसी धार्मिक प्रतिभाओं के लिए कभी विशेष स्थान नहीं रहा जो सामञ्जस्य को नहीं मानतीं तथा 'जाति' की पहचान को धर्म-प्रवीण शक्तियों-राजनीतिज्ञों, सौदागरों तथा व्यापारियों के साथ विलीन करने को तैयार नहीं होतीं। एक सार्वभौम देवता (ईश्वर) की ओर अधिक ओजस्वी एवं गहन अनुभूति हमारे युग की गम्भीरतम आवश्यकता है।"

राधाकृष्णन को इसमें कोई सन्देह नहीं था कि हिन्दू धर्म वेदान्त के माध्यम से विश्व को ऐसे ओजस्वी तथा गहन अनुभूतिशील सार्वभौम देवता का उपहार प्रदान करने में सक्षम है। हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान मात्र ही एक सकारात्मक संकेत था। आर्य तथा द्रविड इस बिन्दु पर पूर्णतः एकमत थे कि आधुनिक हिन्दू धर्म में अवैदिक तत्त्वों से वैदिक तत्त्वों को अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी जातीय तथा भौगोलिक सीमा इसकी प्रगति को रोक नहीं सकती जैसा कि उन्होंने *रिलीजन एण्ड सोसाइटी* (धर्म और समाज) (1947) में स्पष्ट किया है :

"आरम्भिक दिनों में इसका प्रभाव क्षेत्र चम्पा, कम्बोडिया, जावा तथा बाली तक फैला। ऐसा कुछ भी नहीं है जो धरती के दूरस्थ भागों में इसके प्रसार को रोकता हो। भारत एक परम्परा, एक आत्मा, एक प्रकाश है। उसके भौगोलिक तथा आध्यात्मिक सीमान्त एक साथ मेल नहीं खाते।"

चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की हिन्दूवादी अवधारणाएँ मानव जीवन के सभी पहलुओं तथा पृथ्वी की सभी आकांक्षाओं का दायित्व सँभालती हैं। जीवन के सभी ऐहिक विवेचन आध्यात्मिक पटल पर एकतार रूप से उत्थापित हैं और इसीलिए व्यक्ति का दैनन्दिन जीवन 'सच्चे अर्थ में ईश्वर (चरम) की सेवा' हो गया है। *रिलीजन एण्ड सोसाइटी* (धर्म और समाज) में उन्होंने बताया है कि किस तरह से यह उच्च आदर्श, जो कि अनेक प्रयत्नों—योग, मूर्ति पूजा तथा धार्मिक संस्थाओं—के सहारे प्राप्त किया गया था, सर्वत्र पतन को प्राप्त हो रहा है। अब हमारा लक्ष्य होना चाहिए कि इन्हें धार्मिक अनुभूति प्राप्त करने के इनके मौलिक अभीष्ट की ओर वापस लाया जाए। 'नये की विशुद्ध शक्तियों को अतीत के वैध (प्रामाणिक) तत्त्वों के साथ एक नयी एकता में जोड़ा जाना चाहिए या एक नये जाल में बुना जाना चाहिए।' राधाकृष्णन मानते हैं कि अतीत का उत्कृष्ट शंकर के धर्म में ही प्राप्त किया जा सका है, 'जो कि बाह्य आस्थाओं को आत्मसात् करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।' उन्होंने कहा :

"जबकि वैष्णववाद, शैववाद, शक्तिवाद आदि के अनुयायी एक-दूसरे के साथ झगड़ रहे थे, शंकर ने इन प्रचलित विश्वासों को खण्डन-मण्डन के विवाद से निकालकर शाश्वत सत्य के सुबोध वातावरण में रखा। उन्होंने ज़ोर दिया कि सत्य-धर्म की जड़ें आध्यात्मिक आन्तरिकता (भीतरीपन) में निहित हैं। समस्त धर्मों द्वारा जिस सत्य की तलाश है, वह है आत्मा, जब तक हम उस यथार्थ के साथ स्वयं की एकता नहीं मानते जो इन सभी अपूर्ण विशेषताओं से ऊपर है, तब तक हम इस संसार-चक्र में भटकते रहेंगे। अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से वे घोषित करते हैं कि परम के दर्शन के हालाँकि कई तरीक़े हैं, परन्तु उनकी अन्तर्निहित यथार्थता एक समान है यथार्थता की विभिन्न श्रेणियाँ नहीं हैं, यद्यपि सत्य की श्रेणियाँ हैं, अर्थात् यथार्थ को समझने वाली पद्धतियों की श्रेणियाँ।"

अन्य धर्म, जो राधाकृष्णन की दृष्टि में आये, वे उपनिषद् धर्म के समान आदर नहीं पा सके। उन्होंने देखा कि हीनयान (बौद्ध धर्म की एक शाखा) की जीवन के प्रति जुगुप्सा न तो सुविधाजनक है और न ही व्यावहारिक; महायान, उनके मत में, कमोबेश भागवत धर्म है। वे पाते हैं कि रामानुज का वैष्णव धर्म

आकर्षक तो है, पर विश्वास योग्य नहीं है। यहाँ पर राधाकृष्णन मताग्रही विवाद की दलदल में नहीं फँसते। उनकी प्रशंसा (जब कभी होती है) मुखर है, आलोचना मौन। कोई भी धर्म (नया भी) यहाँ स्वागत पाता है वशर्ते वह वर्तमान को शुद्ध करता हो तथा एक सुखद भविष्य सामने लाता हो। राधाकृष्णन सिक्ख धर्म का भारत के सभी धर्मों की तरह सामयिक त्राणकर्ता के रूप में स्वागत करते हैं। वास्तव में कोई भी नया धर्म नहीं हो सकता। केवल एक विशुद्ध चेष्टा या अगला प्रयास हो सकता है। *'द सेक्रेड राइटिंग आव द सिक्खज़'* 'सिक्खों के पवित्र लेखन' (1960) का परिचय कराते हुए उन्होंने पाठकों का ध्यान *आदि ग्रन्थ* की ओर आकर्षित कराया है, जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम शास्त्रों के सूत्र समाहित हैं :

> "यह भारतीय परम्परा के साथ सामञ्जस्य है, जो सभी धर्मों का आदर करता है तथा मानव-आत्मा की स्वतंत्रता में विश्वास करता हैं भारतीय आध्यात्मिक परम्परा मात्र सहिष्णुता से सन्तुष्ट नहीं है। वहाँ कोई सद्भावना अथवा मैत्री नहीं हो सकती, जहाँ हम केवल एक-दूसरे को ही सहन करें...हमें अन्य आस्थाओं का भी अनुपालन करना चाहिए, यज्ञीय जीवन को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनके अनुयायियों को एक आदर्श जीवन के लिए प्रेरित करना चाहिए। सिक्ख गुरुओं में, जिन्होंने *आदिग्रन्थ* को संकलित किया, अन्य धार्मिक परम्पराओं के मूल्यवान तत्त्वों के अनुपालन की आदर्श विशेषता थी। सन्त सारे विश्व से सम्बद्ध हैं। वे सार्वभौम व्यक्ति हैं, जो हमारे मस्तिष्क को धर्मान्धता, अन्धविश्वास. रूढ़िवाद तथा कट्टरता से मुक्त करते हैं और धर्म की मौलिक सरलता पर ज़ोर देते हैं। वे विश्व के महान् मनीषी और आन्तरिक मूल्यों के अभिभावक हैं, जो अपने अन्धविश्वासी अनुयायियों की मतान्धता को परिशोधित करते हैं।"

सृष्टि की सभी वस्तुओं में ईश्वर की उपस्थिति पर ज़ोर देने के कारण राधाकृष्णन ने सिक्ख धर्म को बड़ा सम्मान दिया। ईश्वर कोई तात्त्विक अमूर्तन नहीं है, बल्कि एक बहुत बड़ी प्रायोगिक वास्तविकता है। सिक्ख धर्म का तारतत्त्व सर्वोत्तम ढंग से गुरुनानक की 'आरती' से प्रकट किया जा सकता है, जिसे राधाकृष्णन ने यह दिखाने के लिए उद्धृत किया है कि सन्तगण किस तरह मोतियों से जटित स्वर्ण तश्तरियों में धूप एवं मंजरी के साथ भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में पूजा-अर्चना करते हैं तथा संस्थापित देवता में परम सत्ता (एक ओंकार) को मानते हैं :

> "हे मेरे मालिक, सूर्य और चन्द्र तुम्हारे दीपक हैं, आकाश तुम्हारी थाली है तथा तश्तरी में रखे मोती आकाश में तारों की भाँति तुम्हारे (लिए) तेल (के सदृश) हैं, चन्दन के वृक्ष की सुगन्ध तुम्हारी धूप (सुगन्ध) है, हवाएँ

तुम्हारा चँवर हैं, हे प्रकाश के स्वामी, समस्त वन तुम्हारे पुष्प हैं।"

राधाकृष्णन के वोध की सुस्पष्टता ने उनकी कृतियों को पश्चिम में चमकाया *'ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट'* (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन, 1939) वस्तुतः शव्दशः विश्व की अजन्मी आत्मा की खोज है। पश्चिमी धर्मों में यहूदियों के साथ राधाकृष्णन यह समझौता नहीं कर सके कि केवल उन्हीं (यहूदियों) की एकता (धर्मसत्ता) सच्ची है फिर भी यह स्वीकार करना चाहिए कि यहूदी शेष विश्व को अपने सच्चे धर्म में परिवर्तित करने के संकटपूर्ण रास्ते पर नहीं चले। ईसाई धर्ग एक सामान्य आन्दोलन के रूप में स्वैच्छिक दुखभोग तथा सार्वभौम प्रेम करते हुए शुरू हुआ। तथापि, राधाकृष्णन के अनुसार, ईसाइयत ने अपना नैतिक भाव सेमेटिक (Semetic) धर्म से, मतवाद यूनानियों से, तथा संस्थागत स्थायित्व रोमनों से प्राप्त किया। यह रोमन तत्त्व ही था जो ईसाइयत को इसके सार्वभौम दृष्टिकोण से रोकता था :

> "विश्व राज्य की उनकी इच्छा ने जीसस की सामान्य आस्था को एक उग्र धर्मान्तरित पन्थ में वदल दिया। कांस्टेंटाइन युग के वाद शासकों ने—धर्मनिरपेक्ष तथा क्लैरिकल—धार्मिक विश्वास के अन्य स्वरूपों के प्रति इन शव्दों का सहारा लेते हुए निरन्तर असहिष्णुता बरती कि—वह जो मेरे साथ नहीं है, मेरे ख़िलाफ़ है, और वह जो मुझसे एकमेक नहीं है, विनष्ट एवं छिन्न-भिन्न है।"
>
> "हममे से अधिकांश जो धार्मिक वनना चाहते हैं, ऐसा वे स्वभावतः भावना या जड़भाव से करें। हम अपने धर्म को उसी तरह स्वीकार करते हैं, जैसे कि हम इंग्लैण्ड के कोष अथवा प्रगति के भ्रम को स्वीकार करते हैं। हम ईश्वर में आस्था रखते हैं पर इसके लिए कुछ करने को तैयार नहीं हैं। हम चिन्तन के स्वरूपों को जानते हैं, पर दृढ़विश्वास के तत्त्व से रहित हैं। जव मनुष्य पुरानी आस्था को भूल जाते हैं और इसके स्थान पर कोई ठोस वस्तु रखने के लिए नहीं पाते, तो अन्धविश्वास जन्म लेता है या वढ़ता है।"
>
> "आदिम वर्वरतापूर्ण कार्यों में नये अन्धविश्वास किसी भी तरह प्राचीन अन्धविश्वासों से कम नहीं हैं। लुटेरे राज्य को रोकने वाला कोई नहीं है। राष्ट्रीयता (नेशनहुड) ऐसे ही अन्धविश्वासों में से एक है, एक रहस्यात्मक प्रतीक, जिसकी रक्षा के लिए हम वर्वरों की भाँति पूजा में एकत्र होते हैं।"

विश्व के धर्मों की विवेचना करते हुए राधाकृष्णन जानवूझकर हतोत्साहित

होते हैं कहते हैं कि धार्मिक अनुभूति आज के व्यक्ति के लिए केवल एक आदत बन गई है, जिसके पास इसके गहन निहितार्थों को जानने का समय नहीं है। इसी समय वे यह भी देखते हैं कि आधुनिक व्यक्ति नये अनुभवों पर ज़ोर दे रहा है तथा नये क्षितिजों द्वारा संकेत रूप में उसे बुलाया जा रहा है, क्योंकि दुनिया बहुत सिमट गई है और पूर्व तथा पश्चिम अब एक-दूसरे के लिए अपरिचित नहीं रह गये हैं। पूर्व-पश्चिम के परिचय की इस घड़ी में क्या कुछ ख़ास घटित नहीं हो सकता, एक नया धर्म—मानवता का धर्म—जन्म नहीं ले सकता? ऐसे समय में जब सारी दुनिया में रूढ़िवाद द्वारा मानवता की नींव हिलाई जा रही है, राधाकृष्णन जैसे प्रबुद्ध धर्म-व्याख्याता का स्मरण करना लाभकर है, जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार, हमारे लिए मानव धर्म को स्पष्ट किया। कुल मिलाकर धर्म को हमें सभ्यता की अवयस्कता का पुराणपन्थी स्मृति शेष मानकर तिरस्कृत करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म वास्तव में आत्मपूर्णता के लिए मनुष्य को परम (ईश्वर) का उपहार है! जैसा कि राधाकृष्णन *पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन* में एक समुदाय के बुज़ुर्ग के नाते लिखते हैं :

> "जब मनुष्य सर्वोच्च सत्ता को समझता है, प्रत्यक्ष की ओर लौटता है, तथा अपने जीवन को इसके सत्य के जीवन में नियन्त्रित करता है, तब वह पूर्ण मनुष्य बनता है। (तब) वह प्रायः एक अकल्पनीय (कल्पनातीत) सार्वभौम तक पहुँच जाता है। उसकी सभी शक्तियाँ, जोकि अब तक संकीर्ण स्वार्थों में जकड़ी हुई थीं, एक वृहत लक्ष्य के लिए स्वतंत्र हो जाती हैं। एक आत्म-चेतन व्यक्ति का गौरव ईश्वर-केन्द्रित विनय को पैदा करता है। वह जगत में इस विश्वास के साथ कार्य करता है कि जीवन अपने पवित्र गुण में सदैव आदर्श तथा सुन्दर है, और इसकी हताशा ही मात्र एक बुराई है।"

7

दार्शनिक

राधाकृष्णन धर्म तथा दर्शन के प्रतिपादक थे, परन्तु अपने दृष्टिकोण के नाते वे एक दार्शनिक भी थे मात्र अकादमिक दार्शनिक नहीं। सर्वपल्ली गोपाल राधाकृष्णन के जीवन से अनेक ऐसे उदाहरण देते हैं, जिन्हें केवल धार्मिक अनुभव के रूप में देखा जा सकता है तथा जिसकी व्याख्या अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है, विद्वत्ता के द्वारा नहीं। धर्म की वाह्यताएँ राधाकृष्णन को रोकती नहीं हैं, अपितु उनमें एक वाह्य (परे) की समझ है, परात्पर रूपी एक श्रेष्ठ निर्देशक में विश्वास है :

> "जैसे-जैसे राधाकृष्णन की सफलता विकसित होती गयी, उन्हें अधिकाधिक यह विश्वास होने लगा कि उनका जीवन किसी अदृश्य के हाथों निर्मित हो रहा है। जीवन को वहुत कुछ भिन्न साँचों में ढालने का प्रयत्न कर सकते थे, परन्तु उन्होंने स्वयं को, अपने निर्णयों तथा सोच को उस अदृश्य के प्रति अधिक से अधिक प्रतिवद्ध किया। "

वे ऐसा सोच भी नहीं सकते थे कि किसी का जीवन घटनाओं की एक ऐसी दीर्घ शृंखला वन सकता है। जन्म-स्थिति और धनाभाव के कारण उन्हें कॉलेज-शिक्षा प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना था। यहाँ तक कि एम. ए. करने के वाद भी उन्हें पर्याप्त अर्थ-लाभ नहीं हुआ और आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित होने में उन्हें एक लम्वा समय लगा। और फिर प्रत्येक निर्णायक मोड़ पर सही निर्णय स्वतः ही घटित होने लगे और वे सोद्देश्य आग्रह की अनुभूति के साथ प्रगति की ओर वढ़ने लगे। क्या इससे ऐसा नहीं लगता कि इन नश्वर आँखों से परे कोई ऐसी शक्ति कार्य कर रही थी, जो उन्हें सही समय पर सही निर्णय लेने में मदद पहुँचा रही है? जैसा कि उन्होंने 'अपराध-स्वीकरण का एक भाग' (फ्रेगमेंट्स ऑफ़ ए कन्फ़ेशन) में कहा है :

> "जव मैं उन घटनाओं की श्रेणियों को देखता हूँ जिन्होंने मेरे जीवन को रूप दिया, तो मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस जीवन में ऐसा वहुत कुछ

है, जिसे मेरी आँखें नहीं देख पा रही है। जीवन मात्र भौतिक कारणों और प्रभावों की ज़ंजीर नहीं है। यथार्थ ज़मीन मिलने की सम्भावना झलकती है, पर गहन अन्तरतम में अन्य शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। यदि ब्रह्माण्ड एक जीवित इकाई है, यदि यह आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित है, तो इसमें मात्र सांयोगिक (आकस्मिक) कुछ भी नहीं है। 'गतिशील उँगलियाँ लिखती हैं और तदनन्तर आगे बढ़ जाती हैं।"

राधाकृष्णन ने अन्य शक्तियों, जैसे कि हिन्दू देवकुल में 'इष्ट देवता' की कृपा, के वर्णन हेतु कोई ईश्वरवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। एक पवित्र स्थान तिरुत्तनी से, जो कि प्रसिद्ध मन्दिर तिरुपति के बहुत पास है, सम्बद्ध होने के बावजूद राधाकृष्णन ने हिन्दू देवी-देवताओं का ज़िक्र तब तक नहीं किया है, जब तक अत्यावश्यक न हो। यदि वे उस सार्वभौम शक्ति को नहीं रोक पाये, जिसने उनके भाग्य को राम अथवा कृष्ण अथवा वेंकटेश्वर की मूर्तियों की ओर निर्देशित किया तो ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उन्होंने ऐसी वैदिक-पौराणिक जनश्रुति के बन्धनों को तोड़ दिया था और परम की कर्मलीला को देखा था। उसी समय क्योंकि वे एक गहन धार्मिक वातावरण में आ गये थे—चाहे वह तिरुत्तनी हो या ईसाई मिशनरियों के स्कूल-कॉलेज—दर्शन के प्रति उनका दृष्टिकोण धार्मिक बना रहा और इसीलिए शाश्वत के जीवनानुभव के साथ संपादित होता रहा। एक युवा विद्यार्थी के रूप में जीवन संघर्ष करते हुए उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की गहन निर्धनता उनके चारों ओर उनके जीवन के प्रारम्भिक तीस वर्षों तक छायी रही। इसके बाद एक लम्बे समय तक उन्हें संयुक्त परिवार का ख़र्च वहन करना था। इसके अलावा उनकी अनेक व्यक्तिगत निराशा तथा असंगतियाँ थीं। मात्र सफलता ही उन्हें इन कठिनाइयों में सहारा नहीं दे सकती थी। ऐसे में यदि राधाकृष्णन ने अपनी शान्ति एवं धीरता बनाये रखी और अपने जीवन-लक्ष्य की दिशा में अवाध बढ़ते रहे, तो वह इसलिए, क्योंकि उन्होंने जीवन का एक दर्शन विकसित कर लिया था और जो विशुद्ध उनका अपना था।

'एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ़' (जीवन की आदर्शवादी दृष्टि), कल्कि अथवा *'द .फ्यूचर आव सिविलाइजेशन'* (सभ्यता का भविष्य) तथा *'रिकवरी आव फेज'* (विश्व का प्रतिलाभ) जैसी पुस्तकों का पठन यह विश्वास दिलाता है कि राधाकृष्णन का दर्शन उनकी एक असाधारण दूरदर्शिता के अनुभव प्रकाश में तुलनात्मक धर्म से उनकी गहन संलग्नता का परिणाम है। वाह्य रूप में एक चरम निर्देशक है। विश्वास के क्षेत्रों में सृजनात्मक साहस की संवेदना के साथ उन्होंने लम्बी यात्राएँ की हैं, क्योंकि वे स्वयं भी एक विश्वास के व्यक्ति थे। निश्चय ही वे अवलोकनीय

(विज़नरी) हर्षोन्माद के कृपापात्र नहीं थे, परन्तु उन्होंने अपने भीतर एक संरक्षक शक्ति की उपस्थिति का निश्चित अनुभव किया। इस अनुभूति की न तो वैज्ञानिक ढंग से कोई व्याख्या ही की जा सकती है और न ही प्रतीकात्मक रूप से इसे अभिव्यक्त ही किया जा सकता है। यद्यपि वे एक कवि नहीं थे, परन्तु उन्होंने गहरी लगन से कविता को पढ़ा और पाया कि एक निर्देशक शक्ति की उपस्थिति अन्य लोगों द्वारा भी प्रस्तावित की गयी है, और इसीलिए उन्हें आश्वासन मिला कि वे सही रास्ते पर चल रहे हैं। सदा की तरह, राधाकृष्णन ने इस शक्ति को राम अथवा कृष्ण से नहीं जोड़ा। परन्तु परम (सत्ता) का अस्तित्त्व तथा नश्वर व्यक्ति को दैवी आदर्श के रूप में रूपान्तरित करने में परम का निर्देश—इन दोनों तथ्यों का अनुभव राधाकृष्णन को था। *भगवद्गीता* के चौथे अध्याय की ग्यारहवीं पंक्ति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं :

> "ईश्वर प्रत्येक जिज्ञासु को अनुकूल भाव से मिलता है तथा उसके हृदय की प्रत्येक इच्छा को पूरी करता है। वह किसी आशा को मिटाता नहीं है, बल्कि सभी आशाओं को उनकी प्रकृति के अनुसार विकसित होने में मदद करता है। और, वे जो वैदिक देवताओं की यज्ञादि से पूजा करते हैं तथा प्रतिफल की आकांक्षा रखते हैं, उन्हें भी परम की कृपा से उनका अपेक्षित मिलता है। वे (देवता) जो कृपापूर्वक सत्य की दृष्टि प्रदान करते हैं, प्रतीकों द्वारा इसे सामान्य जनता तक पहुँचाते हैं जोकि अपनी तीव्र उत्कंठा के कारण उसे नहीं देख सकती। नाम और रूप का प्रयोग रूपहीन तक पहुँचने के लिए किया जाता है...तात्त्विक (विचार) दृष्टि से कोई भी प्रस्तुति पूर्णतः सत्य के रूप में नहीं अपनायी जा सकती, जबकि अनुभव के हिसाव से इनमें से प्रत्येक की कुछ-न-कुछ प्रामाणिकता है। पूजा के विभिन्न रूप वे साधन हैं जिनसे हम अपने आत्यन्तिक हित (परम प्रिय) के बारे में चैतन्य होने में मदद पाते हैं।"

राधाकृष्णन पूर्णतः वैज्ञानिक युग में रह रहे थे और वे विश्व-भर में इसकी सफलताओं एवं विफलताओं के वीच छोड़ दिये गये थे। परन्तु पूजा-स्थल 'तिरुत्तनी' की आस्था वाला वह व्यक्ति वैज्ञानिक और तकनीकी आकर्षणों से वहुत प्रभावित नहीं हुआ। हालाँकि वे एक आधुनिक व्यक्ति की तकनीकी कुशलता अर्जित कर रहे थे, किन्तु उनकी आस्था इसी परम निर्देशक में थी। अन्तर्ज्ञान तथा पाण्डित्य में से अन्तर्ज्ञान विजयी होता है। बिना अन्तर्दृष्टि के हमारा सम्वेदी बोध तथा विश्लेषणकारी चातुर्य हमें कहीं नहीं ले जा सकता। *'एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ़'* (जीवन की एक आदर्श) *दृष्टि* में उन्होंने कहा :

"मूल्यों की मान्यता तथा सृजन, दोनों अन्तर्बोधी चिन्तन के कारण हैं। तत्त्व के निर्णय निष्पक्षता की माँग करते हैं, मूल्य का निर्णय अनुभव पर निर्भर करता है। चाहे कार्य की योजना सही हो या ग़लत, चाहे प्रस्तुत उद्देश्य अच्छा हो या बुरा, निर्णय केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा हो सकता है जिनका विवेक (चेतना) जाग्रत हो और जिनकी समझ कुशल। गुणी की सम्वेदनशीलता जीवन का कार्य है और यह मात्र सीखने से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह आत्म-विकास की मात्रा पर निर्भर करती है।"

राधाकृष्णन की कृति *जीवन की एक आदर्श दृष्टि* (एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़) जब 1932 में प्रकाशित हुई तो दार्शनिक क्षेत्रों में ताज़ा हवा की तरह इसका स्वागत हुआ, यहाँ तक कि सी. ई. एम. ने उनके दर्शन पर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसका शीर्षक रखा, *काउन्टर अटैक फ्राम द ईस्ट (पूर्व से प्रति-प्रहार)* जोड ने भारतीय अद्वैत का तो समर्थन किया, लेकिन धर्म, दर्शन, राजनीति तथा संस्कृति को एक अवयवी सत्ता के रूप में संश्लेषित करने वाले राधाकृष्णन के दृष्टिकोण का उन्होंने स्वागत किया। परन्तु यहीं कुछ आलोचना भी थी। लियोनार्ड वूल्फ़ ख़ास तौर से विष से भरा हुआ था और उसने 'बौद्धिक नीमहकीमी' को फटकारने के लिए *क्वैक! क्वैक!* नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसके अनुसार, बीसवीं शताब्दी के कुछ बुद्धि विरोधी ख़तरनाक ढंग से अस्पष्ट रहस्यवाद में लिप्त थे। राधाकृष्णन का यह दावा कि वे अन्तर्ज्ञान को पाण्डित्य के सहायक एक आवश्यक तत्त्व के रूप में मानते हैं, उनके आलोचकों को सरलता से आश्वस्त नहीं कर सका। परन्तु वे ऐसी आलोचनाओं को नकारते हुए अपने दार्शनिक मार्ग पर उसी तरह बढ़ते रहे जिस प्रकार हाथी कुत्तों के भौंकने की परवाह किये बिना अपनी राह बढ़ते जाते हैं। उनकी प्रतिष्ठा को बनाने में *कल्कि (सभ्यता का भविष्य,* 1929) ने भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जो कि लगभग उसी समय प्रकाशित हुई, जिस समय *जीवन की एक आदर्शवादी दृष्टि*।

कल्कि का प्रारम्भिक भाग सार्वभौम सम्बन्धी अवनति तथा दुर्व्यवस्था का दुखान्त दृश्य है। आधुनिक जीवन का क्या कोई ऐसा अंश है, जो भ्रम से प्रभावित न हुआ हो? समय-सिद्ध समस्त संस्थाएँ विखण्डित होने को हैं। धर्म में अव्यवस्था का शासन है। विवाह अब एक संस्कार नहीं रह गया है। इच्छाओं की बहुलता ने हमारे आर्थिक सम्बन्धों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। औद्योगीकरण ने रचनात्मक कलाकारों को एक मस्तिष्कहीन रोबोट (यंत्र मानव) में बदल दिया है। इस शताब्दी में हमने सर्वत्र लोकतन्त्र की अपेक्षा की थी, परन्तु अभी तक हम लोकतन्त्र का स्वाँग रचने में ही सफल हो पाये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तो अब सर्वत्र विरोधाभासों

का संत्रास शेष बचा है। क्या हमारी इस सभ्यता का कोई भविष्य है?

> "व्यक्ति (मानव) जोकि एक युद्धप्रिय प्राणी था, अभी भी जंगली बना हुआ है। आर्थिक सफलता हमारा सर्वोच्च आदर्श बनी हुई है। और प्रायः हमारी समस्त लड़ाइयाँ आर्थिक कारणों के कारण ही हुई हैं। अर्थशास्त्र हमारा धर्म हो गया है और साम्राज्य व्यवसाय। हम युद्ध झेलते हैं अपना व्यापार बढ़ाने के लिए, अपना भू-भाग (प्रशासन क्षेत्र) फैलाने के लिए तथा नये-नये उपनिवेश बनाने के लिए। व्यापार तथा बाज़ार के लिए हम अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता की बलि दे देते हैं, क्योंकि यह सन्देह पैदा कर सकती है, हमारी भावनात्मक सहानुभूति, श्रमिक-वर्ग के शोषण तथा पिछड़ी जातियों पर शासन करने की हमारी कुशलता को प्रभावित कर सकती है, तथा हमारी कल्पना इसमें दृढ़ता के साथ हस्तक्षेप कर सकती है।"

यह 'एडवॉकेट्स डायबोली' (बुराई की मानवीकृत आत्मा-विधर्मी-देवता-दुष्ट आत्मा) की आवाज़ है। विफलता के इस बीहड़ में राधाकृष्णन द्वारा देवतत्त्व की हिमायत यह संकेत देती है कि सभी कुछ ख़त्म नहीं हुआ है। सभी कुछ सारतः कभी ख़त्म भी नहीं होता, क्योंकि सृष्टि कोई आकस्मिक घटना नहीं और सोद्देश्य विकास को व्यक्ति कल्पों (युग) में खोज सकता है।

> "जीवन की विशेषता के साथ पदार्थ के दान तथा गुणों—जैसे मस्तिष्क, बुद्धि तथा आत्मा के उत्तरावर्ती उद्भव ने एक स्थिर गति से अग्रिम दिशागमन को निर्दिष्ट किया है, बावजूद आवर्ती अवनति, स्थिरता, क्रूरता और मूढ़ता के। जैविक विकास की सामान्य दिशा विकासमान पूर्णता की ओर है।"

ह्वाइट हेड तथा थामसन, ओलिवर लॉज तथा लॉयड मार्गन जैसे वैज्ञानिक दार्शनिकों से राधाकृष्णन ने अपनी तात्कालिक उर्जा ग्रहण करते हुए स्थापित किया कि जीवन अन्तःस्थ का सार्वभौम सिद्धान्त इस विकासवादी चक्र के मूल में है। साथ ही उन्होंने उस काल में विद्यमान धर्मों को यह मानकर उपेक्षित नहीं किया कि इनका अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है :

> "यह मानना कि मुझमें सत्य की एकान्तिक (एकमात्र, विशिष्ट) धारण क्षमता है अथवा यह कि सार्वभौम का अर्थविषयक मेरा अध्ययन पूर्ण है एक अहंवादी भ्रम है। प्रत्येक धर्म लोक-आत्मा का प्रतिनिधि है तथा इसकी सत्ता और आकांक्षा की आन्तरिक विधि है। प्रत्येक समूह अपने भीतर दैवी सत्ता रखता है, जिसमें कि वह विकसित होता है...समस्त मानवता के लिए सिर्फ़ कोई भी धर्म हमें जगत् की आध्यात्मिक समृद्धि से दूर ले जायेगा। यदि हम मानसिक

वंध्यत्व और मानवात्मा की जड़ता को रोकना चाहते हैं तो हमें किसी भी ऐतिहासिक धर्म के मूल्यों को अस्वीकार या उनका परित्याग नहीं करना चाहिए।"

भविष्य में धर्म आध्यात्मिकता तथा आचरण पर इतना वल देगा ताकि पूर्ण व्यक्ति विश्व-कल्याण के लिए कार्य कर सके। वैवाहिक सम्वन्ध की शर्त शारीरिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों में मान्य होनी चाहिए। विवाह-विच्छेद के विरुद्ध राधाकृष्णन वड़ी सहजता से खड़े दिखाई देते हैं :

"यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि विवाह संस्था कठिनाइयों और वाधाओं को स्वीकार करते हुए दो व्यक्तियों के विकास के लिए है, तो हम प्रत्येक कठिनाई को भावी प्रयास के लिए एक चुनौती के रूप में लेंगे। एक पूर्ण विवाह हमारी सर्वोच्च उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करता है।—यह माँग करता है कि पारस्परिक विभ्रमों, अपरिष्कृत विचारों और मनोवेगों, स्वभावगत विलक्षणताओं, अरुचियों तथा पारस्परिक ग़लतियों के वावजूद एक-दूसरे (पति-पत्नी) के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए। तलाक यहाँ सदैव निन्दनीय है।"

हालाँकि पैसे को तिरस्कार के भाव से देखने की आवश्यकता नहीं है, पर पैसा हमारे जीवन का अधिनायक नहीं वनना चाहिए, जैसे कि लोकतंत्र के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि 'कम शासित होने के लिए सर्वोत्तम शासित होना चाहिए।' क्योंकि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर नौकरशाही का अत्यधिक नियंत्रण लोकतंत्र का गला घोंट सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में हमें विश्व-एकता से कम कुछ नहीं करना चाहिए। निष्कर्षतः राधाकृष्णन अपनी आस्था को अपने तात्त्विक प्रासाद से वाहर आकर मानव जाति के भविष्य की रक्षा के लिए धार्मिक व्यक्ति—अन्तर्ज्ञान एवं दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति में लगाते हैं :

"शान्ति के लिए धार्मिक आदर्शवाद सर्वाधिक आशाजनक राजनीतिक उपकरण प्रतीत होता है, जोकि जगत् ने आज तक देखा है। हम मनुष्यों के संघर्षशील हितों तथा आकांक्षाओं को बहुत समय तक समायोजित नहीं कर सकते, क्योंकि हमें कर्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति भी अपना पक्ष रखना है, सन्धियाँ तथा राजनयिक विवेक मनोवेग को रोक सकते हैं, किन्तु वे भय को समाप्त नहीं करते। विश्व को मानवता के प्रेम में लिप्त होना चाहिए। हमें उन धार्मिक नायकों की आवश्यकता है, जो सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तरण की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि अपनी जीवन सम्पत्ति (गुण) प्रदान करेंगे, यदि आवश्यक हुआ तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृढ़ धारणा के सत्य को रेखांकित करेंगे, वे वीर

पुरुष जो महान् स्टेट होल्डर के सूत्र को स्वीकारेंगे : 'कार्य-भार लेने के लिए मुझे उम्मीद की आवश्यकता नहीं, और अध्यवसाय के लिए सफल होने की आवश्यकता नहीं।'"

तीसरी वीज गर्भित कृति जो राधाकृष्णन के दर्शन का सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत करती है, 1955 में छपी *विश्वास का प्रतिलाभ* (रिकवरी ऑफ़ फ़ेथ) नामक इस कृति तथा आरम्भिक पुस्तकों के वीच दो महायुद्ध तथा कई परमाणु विस्फोट घटित हुए। राधाकृष्णन अव पहले से भी अधिक आश्वस्त थे कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही मानवता के भविष्य को वचा सकता है। जैसा कि उन्होंने उक्त पुस्तक की प्रस्तावना के प्रारम्भ में कहा है :

"विज्ञान, व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक हस्तक्षेप से विश्व के संभाव्य परिशोधन की अपनी नयी सम्भावनाओं के साथ में यह चेतावनी भी देता है कि पाप (सिन) की क़ीमत मृत्यु है। मनुष्य ने विज्ञान का विकास कर लिया है और यह विज्ञान ही अव उसका लक्ष्य-शिल्पी है : यह एक ऐसी भयानक भ्रान्ति है जिसने आज हमें दासता में जकड़ रखा है।

तथापि, राधाकृष्णन हमें सचेत करते हैं कि मानव जाति भ्रान्ति के ऐसे पलों में प्रायः शिकार हुई है। सेंट ऑगस्टाइन तथा सेंट जेरोम ने रोम के पतन पर विलाप किया है। थ्यूसीडाइड्स ने दुखी भाव से एथेंस (एथेनियन) साम्राज्य की अवनति को प्रमाणित किया है, इसी तरह चार हज़ार साल पूर्व के एक पेपीरस ने प्रमाणित किया है कि एक अवाधित पतन ने उस सभ्यता को प्रभावित किया। हमारे युग को जो श्रेणी विभाजित रखता है, वह है शीतयुद्ध ग्रस्त विश्व का दो युद्धरत गुटों में विभाजन, तथा परमाणु शक्ति का आविष्कार, जो कि इस दुनिया के अस्तित्व तक को विना पल-भर की सूचना दिये समाप्त कर सकती है :

"अपने द्वारा नियंत्रित सभी संसाधनों, अपने में अन्तर्निहित सभी उपहारों, तथा उन सभी शक्तियों के साथ भी जिनका हमने विकास किया है, हम शान्ति और सुरक्षा सहित रहने में असमर्थ हैं। हमने अपने ज्ञान तथा पाण्डित्य में वृद्धि की है, विवेक और गुण में नहीं। विवेक और गुण के अभाव में वस्तुएँ एक स्थायी संघर्ष में आवद्ध रहती हैं।"

यह कहना कि हमारा वर्तमान मात्र अतीतजन्य निराशा की तीक्ष्णतर कल्पना है, हमें सान्त्वना नहीं दे सकता! राधाकृष्णन स्पष्ट उद्धरण देते हुए हमें भाग्य के हाथों निर्दय विनाश से उत्पन्न निस्सहाय सम्वेदना के ख़िलाफ़ सचेत करते हैं :

"यह मानना कि हम असहाय हैं और ऐसी धारा में फँस गये हैं जो

अंततः हमें गर्त में ले जाती है, एक निराशा तथा नाशवाद के दर्शन को गले लगाना है। हम इस धारा के विरुद्ध तैर सकते हैं और इसकी दिशा को भी वदल सकते हैं।"

राधाकृष्णन का सुझाव व्यक्ति, प्रकृति तथा ईश्वर के एकांगी विचारों को त्यागने का है। केलविग, कांट, स्पेंसर, हीगेल, मार्क्स, नीत्शे, स्पेंगलर—मनुष्य की वर्तमान परिस्थिति ने इन सभी तथा कई दूसरों को भी उकसाया है कि वे इसका विश्लेषण करें तथा अपनी राय दें। परन्तु इनमें से कोई भी यथार्थतः प्रेरक व्यक्ति के लिए आगे जाता प्रतीत नहीं होता—"हम स्वयं को उदासीन, मानवद्वेषी, तथा हताश महसूस करने लगे हैं कि अपने चारों ओर फैली वुराइयों को रोकने में हमारा कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।"

और भी, वास्तव में मानव जाति के लिए स्वयं को असहाय समझने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यथार्थ में तो यह स्वतंत्रता की सृष्टि है। आप उसे (मानव को) अनेक 'वादों, अन्धविश्वासों तथा परम्पराओं के घेरे में रख सकते हैं, फिर भी वह विजयी होगा। जव तक विश्वास की किरण मानव सृष्टि का एक अंग वनी रहेगी, तव तक मानवता को आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। यहाँ तक कि अटल भाग्य अथवा अपरिवर्तनीय कर्म-सिद्धान्त भी अथक मानवीय परिश्रम से वदला जा सकता है :

"मनुष्य को अपनी आधारभूत मानवीय प्रकृति से ऊपर की ओर गमन करना चाहिए, जो उसे पशुवृत्ति से उठाकर उच्चादर्श तक पहुँचाता है। एक मानव व्यक्तित्व वस्तुओं में नहीं है, जिसमें उसके स्व का कोई अर्थ न हो। वह कोई मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, जो पूर्णतः प्रतिबन्धित (शर्ताधारित) होती है। यदि उसे इन्द्रियग्राही वनाकर उसकी व्यक्तिनिष्ठता से दूर कर दिया गया है, तो वह कर्म अथवा आवश्यकता से पीड़ित है। मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह विषयगत घटनाओं से बच सके। वह स्वयं का 'आत्म' (हिमसेल्फ़) बन सकता है। मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास स्वतंत्र होने का एक अनवरत प्रयास है। वुद्ध, सुकरात, ज़रथुस्त्र, जीसस आदि के द्वारा मनुष्य में उद्घाटित प्रकाश हमारे सामने मानव-प्रकृति की दैवी सम्भावनाओं को उजागर करता है तथा हमें 'स्व' (आवरसेल्फ़) बनने को प्रोत्साहित करता है।'

यद्यपि तलवार भाँजती महाशक्तियों तथा सहज ही गोलीबारी करती लघु शक्तियों की प्रचण्ड उत्तेजनाओं से यह प्रतीत होता है कि परमाणुविक प्रलयकाल एकदम निकट है, परन्तु राधाकृष्णन हमें आश्वस्त करते हैं कि 'सर्वनाश (नाशवाद) की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी नहीं है।' इस वैज्ञानिक-तकनीकी दुःस्वप्न को रोकने के लिए,

जिसने मानवता को हिटलर के आस्वविज़ तथा ट्रूमैन के हिरोशिमा-नागासाकी दृश्य दिखाये हैं, मनुष्य को आत्मा में अपना विश्वास जगाना होगा और आत्म-शक्ति से ही विश्व का पुनर्निर्माण करना होगा।

विश्वास और व्यवहार साथ-साथ चलते हैं। यदि हम रक्त, जाति तथा भूमि में विश्वास करेंगे तो हमारा विश्व वेलसेन तथा वकेन वाल्ड्स (वैज्ञानिक-दार्शनिक) से भर जायेगा और यदि जंगली जानवरों जैसा वर्ताव करेंगे तो हमारा समाज भी जंगल हो जायेगा। यदि हम सार्वभौम आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करेंगे, तो शान्ति एवं समझदारी विकसित होगी। एक अच्छा पौधा अच्छे फल देता है। राधाकृष्णन हमें गोइठे के सन्देश की याद दिलाते हैं कि 'विश्वास से शासित युगों में उनकी निजी क्रान्ति तथा परमानन्द था, जबकि उन युगों में, जहाँ अविश्वास अपनी घृणित विजय को रेखांकित करता है, तमाम भावी पीढ़ियों के लिए अनुर्वरता स्थिर हो जाती है।' राधाकृष्णन का अपना विचार स्पष्ट है :

> "मानव-जाति की तरह मानव-समाज भी विश्वास से जीते हैं और जब विश्वास समाप्त होता है तो ये भी समाप्त हो जाते हैं। यदि हमारे समाज को स्वस्थ रहना है तो अपने विश्वास को पुनः प्राप्त करना होगा। हमारा समाज इतना रुग्ण नहीं है कि इसका उपचार असाध्य हो गया है, हालाँकि यह विभक्त निष्ठाओं, संघर्षरत विवादों (तर्कों) तथा उमंग और निराशा के परिवर्तित विचारों का शिकार हो रहा है। तीव्र व्यथा की इस स्थिति में हमारा विवेक ही आशा है। हमें एक विश्वास की आवश्यकता है, जो आत्मा की शक्ति को अन्य वस्तुओं के ऊपर स्थापित करेगा तथा उस जगत् में महत्त्व प्राप्त करेगा, जिसमें विज्ञान और संगठन पारम्परिक मूल्यों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके जान पड़ते हैं।"

मनुष्य के अपने भविष्य में विश्वास की इस वापसी योजना में धार्मिक अनुशासन का एक निश्चित स्थान है। हालाँकि अतीत के सभी धर्मों ने आधार अभिवृद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, उनका गूढ़ तत्त्व अक्षुण्ण है। जब हम इस सत्य को समझ लेते हैं तो हम तत्काल अगोचर (इन्द्रियातीत) परम से जुड़ जाते हैं तथा विश्वबन्धुत्व का आँचल पसार देते हैं।

राधाकृष्णन भावात्मक रूप से इस सम्भावना में विश्वास करते थे। यह उनकी प्रार्थना और आशा थी। 1931-1939 के दौरान बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य रहते हुए उन्होंने विश्व को एक साथ रखने की आवश्यकता दुहरायी। दो दशक बाद जब द्वितीय महायुद्ध का संत्रास तथा परमाणु बम जैसी भयावहता घटित हुई तो राधाकृष्णन ने सुनिश्चित सन्दर्भों में कहा कि मानव जाति

का भावी अस्तित्व सार्वभौमिक एकता में निहित है और यह सार्वभौम एकता केवल अन्तर्विश्वासी सम्वाद तथा अन्तर्धार्मिक विवेक में ही सुनिश्चित की जा सकती है :

> "धार्मिक जीवन के विविध स्वरूपों का अध्ययन हमें व्यक्ति-जीवन के लिए धर्म की गहन महत्ता का विचार दे सकता है। मानव संस्कृति के विकास के लिए विभिन्न धर्मों का प्रयोग भवन निर्माण में प्रस्तरों की भाँति किया जाना है, जिसमें विभिन्न धर्मानुयायी एक सत्ता (परम) सन्तति की तरह भ्रातृवत् एकीकृत हो सकते हैं। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को आसक्तकारी आशा का सन्देश देता है। विश्व एक नये विश्वास को जन्म देगा, जोकि एक-दूसरे रूप में पुराना विश्वास ही होगा। यह विश्वास सभी युगों के लिए होगा, मनुष्य में सम्भावित देवत्व मानव जाति की एकता के उस सर्वोच्च उद्देश्य के लिए कार्य करेगा जो हमारे हृदय तथा आत्मा में अंकित है।"

8

शिक्षाशास्त्री

राधाकृष्णन एक शिक्षक, उपकुलपति और शिक्षा शास्त्री थे, भारतीय शिक्षा से उनका जीवनपर्यन्त लगाव अकादमिक (शैक्षिक) समुदाय के लिए व्यापक रूप में लाभप्रद था। वे विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के कट्टर समर्थक थे। अपने दीक्षान्त भाषणों में उन्होंने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि इन संस्थाओं को रूपान्तरकारी उपकरण बनना चाहिए तथा अपने भविष्य को महान् बनाने के लिए भारत की *प्राचीन समृद्ध संस्कृति* का उपयोग करना चाहिए। उन्होंने घोषित किया कि *विश्वविद्यालय मानवतावाद, सहिष्णुता, विचारों और सत्य की साहसिक खोज के लिए स्थापित हुए हैं।* उन्होंने विश्वविद्यालयों को मात्र डिप्लोमा (डिग्री) मिल बना देने पर कड़ी अप्रसन्नता व्यक्त की :

> "विश्वविद्यालयी प्रशिक्षण का मूल्य सूचना-संग्रहण में नहीं है, जैसा कि वैज्ञानिक प्रवृत्तियों ने विकसित किया है। विद्यार्थी को ज्ञान से विचार को तथा सिद्धान्त से तथ्य को अलग करना सीखना चाहिए तथा साक्ष्य को तोलने, तर्क प्रस्तुत करने तथा प्रतिपक्षी के विचारों को निष्पक्षता से जाँचने के योग्य बनना चाहिए। शोध की आत्मा इसके सिवा कुछ भी नहीं है कि स्वतंत्र परीक्षण तथा विवेकपूर्ण चिन्तन के दृष्टिकोण को जारी रखा जाए।"

यद्यपि कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपने अध्यापन काल के प्रारम्भिक दौर में उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रशासनिक मामलों से अपने को दूर रखना चाहा, परन्तु जदुनाथ सरकार के उप-कुलपति बनने पर उन्हें मजबूरन परिसर की राजनीति में खींच लिया गया। विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट में जदुनाथ सरकार द्वारा अपनी उपलब्धियों की उपेक्षा से अप्रभावित रहकर राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय की शिक्षण पद्धति की तीव्र आलोचना की, क्योंकि वहाँ सोचने और करने की नहीं, झुकने और वशीभूत होने की शिक्षा दी जा रही थी। राधाकृष्णन को सर्वसम्मति से कला संकाय की स्नातकोत्तर परिषद का अध्यक्ष चुना गया। इससे उपकुलपति तथा शिक्षक वर्ग के बीच खुली दरार पैदा हो गयी। साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन कर रहे छात्रों को नियंत्रित करने के लिए उपकुलपति द्वारा बुलायी गयी पुलिस

से छात्रों की मुठभेड़ में कई छात्र घायल हो गये। राधाकृष्णन को सिण्डिकेट द्वारा आदेश मिला कि वे इस घटना की जाँच करें। उन्होंने परिसर में पुलिस बुलाने के लिए उपकुलपति की कड़ी आलोचना की।

1931 में राधाकृष्णन स्वयं आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने। 1927 में उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रथम दीक्षान्त समारोह को सम्बोधित किया था और यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि विश्वविद्यालयी आदर्श भारत के लिए कोई नई बात नहीं। राधाकृष्णन का अतीत का आत्मगौरव समकालीन प्रभाव में सदैव महत्त्वपूर्ण रहता था और शैक्षिक क्षेत्र को इस दृष्टिकोण का अच्छा लाभ मिलता था। भारत में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, धरनीकोटा, बनारस, नवद्वीप तथा अनेक अन्य शिक्षाकेन्द्र थे :

> "विश्वविद्यालय, समस्त शिक्षक तथा छात्र एक सामूहिक अस्तित्व का अनुभव करते थे। शिक्षा के ये पीठ देश के श्रेष्ठ मस्तिष्क, इसकी चेतना तथा आदर्शों के विकास के लिए उत्तरदायी थे। इन्होंने वह सब उत्पन्न करने में मदद की, जिसे हम विश्वविद्यालय जगत कह सकते हैं—सांस्कृतिक विचारों का एक समुदाय, मौलिक लक्ष्यों तथा विचारों के क्षेत्र में एक व्यापक समरुचिपूर्णता। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में विश्वविद्यालय ही हैं, जिन्हें विचारों और आदर्शों की दुनिया में नेतृत्व प्रदान करना है।"

राधाकृष्णन ने जो सचमुच घटते हुए देखा, वह था सभी मूल्यों का स्थिर गति से विघटन तथा शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच एक अशोभनीय छुपाव की परम्परा। वहाँ विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का भी अभाव था और बिना स्वायत्तता के वे संस्थाएँ प्रगतिशील नहीं बन सकती थीं। आन्ध्र विश्वविद्यालय के अपने प्रथम पंचवर्षीय कार्यकाल में संस्था के निर्माण हेतु उन्हें सुनहरा अवसर मिला। वाल्टेयर में उनका पंचवर्षीय निवास चतुर्दिक् विकास के लिए रेखांकित हुआ। स्पष्ट ही एक शैक्षिक द्रष्टा कार्य कर रहा था और उन्होंने शीघ्र ही युवा तथा कुशल शिक्षकों का स्टाफ़ खड़ा कर दिया, जैसे हुमायूँ कबीर, हीरेन मुखर्जी, टी.आर. शेषाद्रि तथा अन्य। शैक्षिक नियुक्तियों में उन्होंने विभाजन का अवसर नहीं दिया तथा विश्वविद्यालय देदीप्यमान हो उठा।

चार वर्ष पूर्व नवस्थापित विश्वविद्यालय में अपने दीक्षान्त भाषण में राधाकृष्णन ने कहा कि यहाँ सांस्कृतिक अतीत पर पर्याप्त ध्यान दिया जाए, ताकि भारतीय पुनर्जागरण में विद्यार्थीगण उपयुक्त भूमिका निभा सकें। परन्तु यह दृष्टिकोण किसी प्रतिक्रिया में नहीं था, बल्कि वे व्यापक समझदारी और मुक्त हृदय से आत्मसातीकरण तथा सोद्देश्य सृजन के लिए कह रहे थे :

अतीत का रचनात्मक रूढ़िवाद प्रतिक्रियावादी तथा अतिवादी धाराओं का मध्यवर्ती विन्दु है। जब हम भारतीय संस्कृति के इतिहास का प्रारम्भिक काल से अध्ययन करते हैं--बहुत नहीं तो चार-पाँच हज़ार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता से आज तक—एक विशेषता जो इसके समस्त विकास-काल में व्याप्त मिलती है, वह है इसकी नमनीयता तथा आवश्यकताओं के अनुरूप प्रतिक्रिया की क्षमता। समय-समय पर अपनी साहसिक उदारता तथा दुःसाहसिकता के साथ इसने अन्य प्रणालियों के चिन्तन और विश्वास में सत्य के तत्त्वों को अपनाया। यह दूसरों से शिक्षा पाने में अतिरिक्त गर्वीला कभी नहीं रहा और अपनी आवश्यकतानुसार अपनी शैलियाँ स्वीकृत कीं, यदि हम इस सत्य (आत्मा) को धारण कर लें तो हम बढ़ते हुए विश्वास एवं शक्ति से भविष्य का सामना कर सकते हैं।"

लेकिन साथ ही, उसी समय उन्होंने वैज्ञानिक तकनीकी युग को अस्वीकार नहीं किया। यह सच है कि हमारी सभ्यता आत्मा (स्पिरिट) के आधार पर खड़ी हुई है, परन्तु इसने वाह्य संगठन की शक्ति को अस्वीकार नहीं किया है। अतः विश्वविद्यालयों की कोशिश यह होनी चाहिए कि वे एक अल्पविकसित उप महाद्वीप के लाखों अभागों को अच्छा और उत्कृष्ट ज्ञान देने के लिए विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हमारा ज्ञानवर्धन करें :

"एक आध्यात्मिक सभ्यता आवश्यक रूप से दरिद्रता तथा कोई रोग नहीं है और न ही यह मनुष्य-चालित कोई रिक्शा या ठेला है। इसे मात्र यह कहा जा सकता है कि माणिक्य की तुलना में विवेक अधिक मूल्यवान है, और विवेक व्यक्ति पर कुछ भी क्यों न घटित हो वह खुश रहता है तथा यह मानना है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए निर्धनता और जर्जर स्वास्थ्य भी सहायक ही है। हालाँकि निर्धनता तभी आध्यात्मिक है, जब वह स्वैच्छिक हो, जबकि दरिद्रता (स्थूल निर्धनता या क्रॉस पावर्टी) हमारे आलस्य और असफलता की निशानी है। हमारा जीवन-दर्शन स्वास्थ्य के विकास और समृद्धि को मानव-प्रयत्न के वैध उद्देश्यों के लिए स्वीकृत करता है।"

1931 में 'इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी' शीर्षक से लिखा गया उनका लेख देखना महत्त्वपूर्ण है, जिसे उन्होंने श्री अरविन्द के 'आर्य' में लिखे गये लेख के उद्धरणों से पुष्ट किया है :

"यदि उपनिषद्, बुद्ध अथवा बाद के शास्त्रीय युग के समय के किसी प्राचीन व्यक्ति को आधुनिक भारत में लाया जाये तो वह देखेगा कि उसकी जाति

अतीत के रूपों, टुकड़ों तथा आवरणों से चिपकी हुई है तथा अपने आदर्श-अभिप्राय का नौवाँ-दसवाँ भाग खोती जा रही है...। वह मानसिक निर्धनता, जड़ता, कठोर पुनरुक्ति, विज्ञान के अवसान, कला की व्यापक अनुर्वरता, तथा रचनात्मक अन्तर्दृष्टि की तुलनात्मक दुर्बलता देखकर भौंचक्का रह जायेगा।"

अतः यह स्पष्ट है कि राधाकृष्णन ने शिक्षा की एक ऐसी अभिन्न योजना लागू करनी चाही, जो विज्ञान को प्रोत्साहित कर सके, साथ ही साथ उन विभाजक दीवारों को गिरा सके जो मनुष्य जातियों (मानवता) एवं विज्ञान के बीच खड़ी कर दी गई हैं। इन सव विचारों को अव व्यवहार में लाये जाने का अवसर है। उन्होंने अनेक शास्त्रों (विषयों) में ऑनर्स तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चालू किये। सी.वी.रमन से विज्ञान विषयक पाठ्यक्रम तय करा पाने में सफलता पायी। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्होंने एम.विश्वेश्वरैया से पाठ्यक्रम तय करवाया। विज्ञान तथा कला संकायों के लिए बड़े-बड़े भवन—पुस्तकालय भवन एवं छात्रावास—बने। राधाकृष्णन ने तेलुगु में भी वैज्ञानिक तथा रचनात्मक लेखन को प्रोत्साहित किया और अनेक व्याख्यानों का आयोजन किया। व्याख्यान देने तथा एक नृत्य-नाटिका के निर्देशन के लिए उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बुलाया। निश्चय ही, इस सबके लिए पर्याप्त धन की ज़रूरत थी, परन्तु कुलपति तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों के साथ अच्छे सम्बन्धों के चलते उन्हें अपने सभी माँगपत्रों पर अनुकूल आश्वासन मिला। उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति ने उन्हें अनेक प्रदेशों में श्रद्धा का पात्र बना दिया तथा देशी राजाओं को सहयोग के लिए प्रेरित किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान उन्हें महाराजा जयपुर से मिला था, जिन्होंने अनुदान आदि से अनेक वर्षों तक विज्ञान कॉलेज को परिपोषित किया।

यद्यपि, ऑक्सफ़ोर्ड में स्पाल्डिंग पद स्वीकार करने के बाद राधाकृष्णन अपनी गुणात्मक बेहतरी के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन से मुक्ति चाहते थे, परन्तु 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर उन्हें वापस भारत आना पड़ा। अब उन्हें वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (बी. एच. यू.) का उपकुलपति बनना पड़ा और उन्होंने सरकार तथा कांग्रेस के परस्पर विरोधी तनाव के बीच विश्वविद्यालय को कुशलतापूर्वक संचालित किया। सरकार ने जब यह आदेश दिया कि सेना विश्वविद्यालय परिसर को अपने नियंत्रण में ले ले, तो राधाकृष्णन ने इस मामले का दृढ़ता से सामना किया, उन्होंने देशभक्त छात्रों का पक्ष लिया तथा विजय पाई। कोई भी सरकारी ताक़त उन्हें विश्वविद्यालय की स्वायत्तता छोड़ने को विवश नहीं कर सकी, और इसकी वकालत वे अपने प्रारम्भिक दिनों अर्थात् कलकत्ता विश्वविद्यालय के दिनों

से ही करते आ रहे थे। न ही उन्होंने नौकरशाही को खुश करने के लिए महात्मा गाँधी के प्रति अपनी श्रद्धा तथा जवाहरलाल नेहरू से अपनी मैत्री को त्यागा। 1942 में उन्होंने विश्वविद्यालय के रजत जयंती समारोह में महात्मा गाँधी को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया। इसी तरह उन्होंने राष्ट्रवादी नेताओं—जैसे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा पं. जवाहरलाल नेहरू को मानक उपाधियाँ प्रदान कीं।

भारत के स्वाधीनता प्राप्त करने पर जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें 'विश्वविद्यालय आयोग' की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया। इस आयोग में ज़ाकिर हुसैन, आर्थर मार्गन (टेनेसी घाटी अधिकरण के प्रथम सभापति) तथा डर्हम यूनिवर्सिटी के उपकुलपति जेम्स डफ़ जैसे प्रख्यात शिक्षाशास्त्री शामिल थे। इस आयोग की रिपोर्ट, राधाकृष्णन की कृति *'एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार'* (शिक्षा, राजनीति और युद्ध) तथा उनके द्वारा दिये गये अनेक दीक्षान्त भाषण राधाकृष्णन को एक विरल प्रतिभावान शिक्षाशास्त्री सिद्ध करते हैं।

राधाकृष्णन की रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए प्रोफ़ेसर रमेश मोहन ने कहा, "स्वाधीन भारत में उच्च शिक्षा के पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए यह राष्ट्र को पहली बार उपलब्ध सुचिन्तित तथा सम्पूर्ण ख़ाका है।" (रिपोर्ट का एक अनिवार्य विचार यह था कि सामान्य, स्वैच्छिक तथा व्यावसायिक शिक्षा घोषणाओं से दूर यह रिपोर्ट इस बात का उल्लेख करती है कि—शिक्षा एक जटिल मुद्दा है और इसके घेरे में राजनीति, प्रशासन, पेशा तथा वाणिज्य सभी आते हैं। और वे जो उच्च शिक्षा के साथ जुड़े हुए हैं, नये भारत के निर्माण में उनका महानतम उत्तरदायित्व है :

> "यदि भारत को अपने समय की उलझनों का सामना करना है तो उसे अपने निर्देशन के लिए उनकी ओर नहीं देखना चाहिए, जो मात्र बीतते समय की अपेक्षाओं में खो गये हैं, बल्कि उसे देश के अनुभवी और विद्वान व्यक्तियों, कवियों, कलाकारों, शोधार्थियों तथा अन्वेषकों की ओर मुड़ना चाहिए। सभ्यता के ये बौद्धिक पथ-प्रदर्शक विश्वविद्यालयों में ही प्राप्त तथा प्रशिक्षित किये जा सकते हैं क्योंकि वे ही राष्ट्र के आन्तरिक जीवन के अभयारण्य हैं।"

शिक्षा तथा शोध साथ-साथ चलनी चाहिए। शैक्षिक समस्या को सामाजिक समस्या के साथ जोड़ देना चाहिए तथा व्यक्ति को अपने समुदाय की आध्यात्मिक तथा भौतिक ज़रूरतों को भी ध्यान में रखना चाहिए। दूरदर्शिता के साथ उस रिपोर्ट ने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में कृषि, वाणिज्य, शिक्षा व्यवसाय, प्रशासन, लोकप्रशासन तथा औद्योगिक आदि विषयों को मान्यता दी। धार्मिक शिक्षा को भी एक आवश्यक अंग माना गया। रिपोर्ट में विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षण माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी

में दक्षता को प्रभावित किये बिना क्षेत्रीय माध्यमों की साहसिकता पूर्ण वकालत की गयी :

> "अंग्रेज़ी का अध्ययन जारी रखना चाहिए। यह ऐसी भाषा है जो साहित्य मानविकी, विज्ञान तथा तकनीकी में सक्षम है। यदि भावना के वशीभूत होकर हम अंग्रेज़ी को बन्द कर देते हैं, तो ज्ञान की विकासमान तथा सजीव धारा से स्वयं को काट लेंगे। विश्व से अपने अलगाव को रोकने का एकमात्र साधन अंग्रेज़ी ही है, और यह हमारा मूर्खतापूर्ण कार्य होगा कि हम स्वयं को अज्ञानता के एक अंधेरे पर्दे में बन्द कर लें।"

परीक्षा-पद्धति में सुधार के लिए राधाकृष्णन ने प्रत्याशियों (विद्यार्थियों) के वस्तुनिष्ठ परीक्षण पर ज़ोर देने की सिफ़ारिश की। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की कि विश्वविद्यालय की डिग्री को सरकारी नौकरियों से अलग कर दिया जायेगा। विश्वविद्यालय प्रणाली में प्रोफ़ेसर मुख्य व्यक्ति था :

> "विश्वविद्यालय कर्मचारियों का स्तर-विभाजन अनुभव, विद्वत्ता, शोध तथा शिक्षण-योग्यता पर आधारित है। सर्वोच्च पद—प्रोफ़ेसर के लिए इन सभी का ज्ञान उच्च स्तर का होना चाहिए। सामान्यतः प्रोफ़ेसर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उच्च कक्षाओं में कई वर्षों तक पढ़ा चुका हो तथा उसने अपनी विद्वत्ता स्थापित कर ली हो। उसे मात्र संकीर्ण विशेषज्ञ नहीं होना चाहिए, बल्कि व्यापक रुचि एवं दृष्टि रखनी चाहिए ताकि वह अपने विभाग में अपने सहयोगियों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित कर सके और साथ ही विश्वविद्यालय की शैक्षिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रभावी योगदान दे सके। यह भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है कि उसे ज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण रुचि लेनी चाहिए। उसे न केवल अपने अध्ययन की शाखाओं के अद्यतन विकास के साथ जुड़ा हुआ होना चाहिए, बल्कि उस काफ़िले का सक्रिय सदस्य होना चाहिए, जो ज्ञान का बहुमूल्य भार लेकर आगे बढ़ रहा है।"

राधाकृष्णन की रिपोर्ट अपनी परिधि के अन्तर्गत अन्य प्रभावकारी विषयों—जैसे कि आरक्षण, स्त्री-शिक्षा तथा ग्रामीण विश्वविद्यालय को भी सम्मिलित करती है। उसने उच्च शिक्षा की इन संस्थाओं के लिए वित्तीय सुविधा दिये जाने की भी सिफ़ारिश की :

> "समस्त आवश्यक व्यय उपलब्ध करा पाने की सम्भावना हम प्रान्तों में नहीं देखते। मौलिक, द्वैतयिक तथा तकनीकी विद्यालयों की अत्यावश्यक ज़रूरतों

को पूरा करने में उन पर भारी बोझ पड़ेगा। इसके लिए केन्द्र से अपेक्षित अनुदान आना चाहिए, और इन अनुदानों को केन्द्र द्वारा आँख मूँदकर अथवा यंत्रवत् नहीं बाँटा जायेगा और न ही उसे ऐसा करना चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये धन का वितरण शिक्षा मंत्रालय के तहत कार्य कर रहे एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को करना चाहिए।"

फिर भी सरकारी अनुदान से विश्वविद्यालय का ख़र्च चलने का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि उनकी स्वायत्तता कम कर दी जाए। रिपोर्ट इस बात को स्पष्ट करती है :

"निश्चय ही उच्च शिक्षा राज्य का दायित्व है, पर राजकीय अनुदान से ये भ्रम नहीं होना चाहिए कि शैक्षिक नीतियों एवं व्यवहारों पर राज्य का नियंत्रण है। बौद्धिक प्रगति आत्मा के उन्मुक्त अन्वेषण की माँग करती है। परिणामों की चिन्ता किये बिना सत्य का अनुसरण तथा व्यवहार विश्वविद्यालयों का लक्ष्य हो गया है।"

जब भी राधाकृष्णन ने शिक्षा पर वक्तव्य दिया, अपने विषय को उन्होंने शैक्षिक बाज़ार के मोल-तोल से ऊपर उठाकर श्रोताओं में आदर्शवाद की अनुभूति जगाई। शिक्षा को उन्होंने सामाजिक श्रेष्ठता अथवा कार्यालयी रोज़गार पाने का मात्र वीज़ा (पासपोर्ट) नहीं समझा। शिक्षा मानव जाति को इतना अनुशासित तथा प्रेरित करे कि वह स्वयं को इतना आगे बढ़ा सके कि उसे राधाकृष्णन का आदर्श-धार्मिक व्यक्ति का प्रादुर्भाव-प्राप्त हो जाए। शिक्षा को उन्होंने मानव-आत्मा की पुनर्प्राप्ति का मार्ग बताया। सही शिक्षा विवेकशील मानवों को उत्पन्न करती है, जो कि रूढ़िवाद को त्याग देंगे तथा धार्मिक आत्मा के विशुद्ध स्रोतों को पुनः प्राप्त करेंगे। जैसा कि उन्होंने अपनी पुस्तक *'एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार'—शिक्षा, राजनीति और युद्ध* में लिखा है :

"शिक्षा का लक्ष्य आत्म-ज्ञान है, क्योंकि आत्मतत्त्व एक शान्ति विभेदी आत्मा है। यदि हम आन्तरिक व्यक्ति (मानवात्मा) को एक ट्यूटन अथवा गाउल, एक सैक्सन अथवा पुजारी, एक सर्वहारा अथवा बुर्जुआ के रूप में नहीं, बल्कि जगत् में एक स्थायी तत्त्व का सामना करने वाले के रूप में समझेंगे, तभी हम सच्चे मानव हैं। हमारी शिक्षा को बालमन की सहज आकांक्षाओं तथा लक्ष्यों को पूर्ण करना चाहिए, जोकि स्वयं को समग्र मानवता के साथ जोड़ते हैं। बोधपूर्ण शिक्षा को इन प्राकृतिक आवेगों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

राधाकृष्णन ने आज के सर्वोत्तम विकल्प के रूप में प्राचीन भारतीय शिक्षा

के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुना। केवल 'मंत्रविद्' (शास्त्रों का ज्ञाता) होना काफ़ी नहीं है। 'आत्मविद् (आत्मा का ज्ञाता) हो जाता है। एक विलक्षण उत्तरदायित्व शिक्षक पर निर्भर करता है जो इस रूपान्तरण को प्राप्त करेगा तथा आध्यात्मिक व्यक्ति के विकास में सहायक होगा :

> "सच्चा धर्म यह मानता है कि ईश्वर का रूप प्रत्येक व्यक्ति में है, चाहे उसकी जाति अथवा पन्थ कुछ भी हो। यह कुछ अन्य 'आत्म' पर नहीं, चाहे वह आत्म वुद्ध अथवा मसीहा का ही क्यों न हो। यह 'आत्मज्ञान' मात्र अनुकरणात्मक नहीं है, बल्कि सूक्ष्म सजगता पर आधारित है। विशुद्ध आध्यात्मिकता समस्त धार्मिक नामकरणों को पार कर जाती है तथा अपने सभी पक्षों में विश्व के मानवीकरण अथवा आध्यात्मीकरण की माँग करती है। आध्यात्मिक जागरूकता तथा सामाजिक सद्भाव एक स्वतंत्र समाज के दो पहलू हैं। यहाँ मानव आकांक्षा (आवश्यकता) की एक समझ होती है और शिक्षक इसे उपलब्ध करा सकता है। एक युवक को मानव की मौलिक शक्ति तथा उत्कर्ष का विचार देकर, एक मनुष्य के रूप में उसकी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा विकसित कर तथा एक पराराष्ट्रीय संस्कृति तथा सर्वसमावेशी मानवता की शिक्षा देकर उस समझ को उपलब्ध करा सकता है।"

9

राजनेता

राधाकृष्णन के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं में से एक दार्शनिक-राजनेता के पहलू को जनता ने सर्वाधिक पसन्द किया। राधाकृष्णन के रूप में लोगों को प्लेटो का आदर्श नज़र आने लगा था। मूलतः एक सार्वभौमवादी होते हुए उन्होंने भारत के प्रभावशाली सांस्कृतिक राजदूत के रूप में उस समय कार्य किया। जब उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड के अपने विजय-प्रवास के दौरान मानचेस्टर तथा लन्दन में हिबर्ट व्याख्यान दिये। राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ़ नेशंस) द्वारा स्थापित बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के लिए 1930 में इन्हें सर जगदीशचन्द्र बोस के स्थान पर भारत का प्रतिनिधि बनाया गया। स्वाधीन भारत में ये मास्को में भारत के राजदूत, भारत के उपराष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति बने।

ये सभी ऐसे पद थे, जिनके लिए न केवल राजनीतिक कौशल की अपेक्षा थी, अपितु राजनेतृत्व की दूरदर्शिता भी ज़रूरी थी। उपकुलपति के रूप में एक सफल व्यक्तित्व के लिए राधाकृष्णन का प्रशिक्षण प्रशंसनीय था, और यह आसान कार्य नहीं था। यह पद लोगों के साथ अच्छे संपर्क की योग्यता की माँग करता है। विश्व-साहित्य तथा दर्शन में उनकी व्यापक विद्वत्ता तथा आधुनिकतावादी दृष्टि से परिपूर्ण उनकी सार्वभौम दृष्टि ने राज्यपाल विषयक पदों पर अभूतपूर्व सफलता दिलायी। विश्व-दर्शन तथा धर्म के एक विलक्षण दार्शनिक तथा इतिहासवेत्ता के लिए मानव-एकता पर आधारित नई विश्व-व्यवस्था में अपने सिद्धान्तों को व्यवहार में बदलने के लिए अब उन्हें अच्छा अवसर मिल गया। वे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिनमें विश्व राज्य तथा सार्वभौम एकता पर उनके विचार निहित हैं, निम्नलिखित हैं 'द *हार्ट आव हिन्दुस्तान*' (भारत का हृदय), *'इण्डिया एण्ड चाइना'* (भारत और चीन), *'इज दिस पीस'* (क्या यह शान्ति है), *'ईस्ट एण्ड वेस्ट रिफ़्लेक्शन्स'* (पूर्व और पश्चिम : चिन्तन) तथा भारतीय राष्ट्रपति के रूप में उनके भाषण।

सार्वभौम एकता की कोई भी बात अपने राष्ट्र की सही समझ से शुरू होनी चाहिए। *भारत का हृदय* पुस्तक हमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई तथा बौद्ध धर्मों के नाम तथा प्रकृति के विषय में शिक्षित करती है। ये सभी धर्म भारत की आर्य-सम्पदा

का भवन खड़ा करते हैं। ये सभी हमारे राष्ट्र की धड़कनें हैं, जोकि सार्वभौम एकता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं : "सभी धर्मों का भारत स्वागत करता है, यह चिन्तन की मेघाच्छादित ऊँचाइयों से अनुभव करता है कि सर्वोच्च शिखर पर आध्यात्मिक परिदृश्य एक जैसा है, यद्यपि घाटियों के माध्यम से रास्ते अलग-अलग हैं।" हिन्दू धर्म स्वयं धर्म पर आधारित है, जो कि जीवन की आचार शास्त्रीय (नीतिपरक) योजना से कहीं अधिक है।

इस्लाम से घनिष्ठता स्थापित करते हुए राधाकृष्णन देखते हैं कि भारत भूमि पर इस धर्म के सृजनात्मक विकास की वड़ी संभावनाएँ हैं। इस्लाम के अधिकांश प्रारम्भिक विचार वेदान्त के निरपेक्षतावादी विवेचन में देखे जा सकते हैं तथा सूफ़ी मत भविष्य में काफ़ी ऊँचाई तक उठ सकता है :

> "एक विस्तृत आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ भारतीय मुसलमान का यह विशेषाधिकार है कि वह इस्लाम की आस्था का विवेचन उसके सच्चे, ऊँचे तथा आदर्श अर्थ में करे, ताकि इसे आज अज्ञानी रूढ़िवादियों, राजनीतिक षड्यंत्रकारियों तथा धार्मिक हठधर्मियों द्वारा प्रचारित पन्थ से अलग किया जा सके। यदि भारतीय मुसलमान अपनो पैतृक (दाय) परम्परा को अपनी लब्ध आस्था के साथ जोड़ता है तथा नये और पुराने के वीच एक सम्वाद स्थापित करता है, तो वह इस्लामी सत्य के उन उपेक्षित पहलुओं को सामने लाने पर ज़ोर देगा, जिन्होंने सभ्यता और संस्कृति को सचमुच प्रोत्साहित किया तथा जीवन में मरणशील विश्व के उन कम महत्त्वपूर्ण व्योरों को सामने लाया जो ऐतिहासिक दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप पूर्णतः अतिरंजित हो जाने वाले थे।"

राधाकृष्णन ने हिन्दू चिन्तन तथा ईसाई सिद्धान्त के वीच भी समानताएँ देखीं। वेदान्त 'पारत्व' (इन्द्रियातीत प्रकृति) तथा 'सुलभ्य' से पूर्ण परम की प्रकृति वतलाता है। ईसाइयत में भी ऐसी प्रतीकात्मकता देखी जा सकती है :

> "त्रित्व का सिद्धान्त न केवल ईश्वर की एकता में जीसस का स्थान सुनिश्चित करना चाहता है, अपितु इसने *ओल्ड टेस्टामेंट* में ईश्वर के विषय में एकांगी विचार को भी सुधारने की कोशिश की है। ईश्वर न केवल सर्वोच्च में स्थित अनन्त सत्ता है, वल्कि वह प्रेम का एक सर्वव्यापी, अन्तर्यामी सिद्धान्त भी है। ईश्वर अनुभवातीत तथा संसार से परे नहीं है, वल्कि असीम, अनन्त प्रेम है, जोकि अपने आपको जगत् में अनवरत गति से उड़ेल रहा है।'
>
> अपने राष्ट्र की समृद्ध आर्य-सम्पदा से परिचित होने के बाद व्यक्ति को अपने

पड़ोस की प्रबुद्ध जागरूकता की ओर अग्रसर होना चाहिए। राधाकृष्णन चीन की प्राचीन संस्कृति के प्रशंसक थे और उन्हें आशा थी कि भारत और चीन घनिष्ठ मित्र होंगे। वे चीन जैसे बड़े देश की राजनीतिक व्यवस्था से बहुत अप्रसन्न थे। लोकतांत्रिक प्रणाली के अथक अधिवक्ता ने चीन में स्वतंत्र चुनाव प्रणाली लागू करने की इच्छा व्यक्त की। ऐसे वक्तव्य माओ को खुश नहीं कर सकते थे। लेकिन उस समय तक राधाकृष्णन की प्रतिष्ठा इतनी अधिक हो चुकी थी कि 1957 की उनकी चीन यात्रा सौहार्दपूर्ण रही। उन्हें वहाँ पर्याप्त सम्मान मिला तथा उन्होंने भी कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में चीनी सरकार की विलक्षण उपलब्धियों के लिए चीन की प्रशंसा की। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की अनुपस्थिति को लेकर उन्होंने अपनी असहमति ज़ाहिर कर दी। और भी, उन्होंने देखा कि वैचारिक प्रगति के नाम पर एक महान संस्कृति का अनेक तरीक़ों से विनाश किया जा रहा है। अतीत के एक सच्चे प्रेमी के रूप में वे चुप न रह सके और अपने मेज़बानों से कहा कि इस संस्कृति का विकास कई हज़ार वर्षों में हुआ है और अब इसे हमेशा के लिए नष्ट नहीं किया जाना चाहिए।

जो कुछ उन्होंने चीन में सचमुच घटते हुए देखा था, उसके लिए अपनी ओर से कुछ करने के लिए उन्होंने परिवर्तित निर्णयों का सहारा लिया। चीनी आक्रमण की समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने नेहरू के दृष्टिकोण को निर्देशित किया। वे जानते थे कि राजनीतिक अधीनता से अधिक चीन की नीतियाँ भारत की उस गौरवमयी सभ्यता को नष्ट करने में सहायक होंगी, जिसे भारत ने वैयक्तिक आत्मा की श्रेष्ठता पर पोषित किया है। परन्तु उन्होंने सोचा कि प्रतिरोध का जवाब घृणा से नहीं दिया जाना चाहिए। उन्होंने अन्धकार के उन दिनों में चीनी लोगों के ख़िलाफ़ किसी भी प्रकार के घृणा-अभियान का विरोध किया।

राधाकृष्णन के राजनेतृत्व की दूसरी उल्लेखनीय सफलता सोवियत संघ में राजदूत के रूप में थी। वे निश्चित रूप से मार्क्सवादी दर्शन के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे, क्योंकि वह नास्तिकतावादी था और मनुष्य की निजता को कोई महत्त्व नहीं देता था। चीन की भाँति यहाँ भी वे अपने भाषणों तथा लेखों में निर्भीक रहे। राधाकृष्णन सूचित करते हैं कि एक बार वे मास्को में खुले रूप में साम्यवाद विरोधी लेखों का संकलन *द गॉड दैट फ़ेल्ड* (ईश्वर जो कि फेल हो गया) बाँट रहे थे। परन्तु रूसियों ने उनका स्पष्टतः स्वागत किया, क्योंकि वे सुनने तथा बहस करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। वास्तव में, राधाकृष्णन के लिए स्टालिन का सहज निमंत्रण एक इतिहास बन गया है। राधाकृष्णन की वाक्पटुता तथा सुस्पष्ट तार्किकता ने स्टालिन पर गहरा प्रभाव डाला और उसने कह ही दिया कि "यह व्यक्ति रक्तस्रावी हृदय से बोलता है, किसी सामान्य राजदूत की तरह नहीं।"

राधाकृष्णन की राजनीतिमत्ता का रहस्य उनकी सार्वभौम दृष्टि में था। पाश्चात्य शिक्षा ने उनका पश्चिमीकरण नहीं किया और वे अब भी भारतीय पोशाक पहनते थे। जिस तरह से वे अपने देश की विरासत की प्रशंसा करते थे। (इसकी कमियों को भी देखते हुए), उसी तरह वे किसी भी देश की प्रशंसा कर सकते थे, किन्तु साथ ही उसकी ग़लतियों एवं कमज़ोरियों को भी रेखांकित कर देते थे। सार्वभौमिक उपचार पाने के लिए उनके व्यक्तिगत विचारों ने उनकी उत्सुकता में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। उन प्रारम्भिक दिनों में एक प्रोफ़ेसर के रूप में, *द हार्ट आव हिन्दुस्तान* (भारत का हृदय) जैसी पुस्तक लिखी, राधाकृष्णन ने मानव जाति की एकता की हिमायत की। एक राजनेता के रूप में भी वे पूर्व तथा पश्चिम को एक-साथ लाना चाहते थे, ताकि सार्वभौमिक शान्ति हो सके। धार्मिक व्यक्ति को फलने-फूलने का यह अच्छा अवसर था कि जो कि विकास की अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए मानवता की सहायता कर सकता था। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा के आधुनिक युग में सार्वभौम सदिच्छा के विषय में बोलना एक स्वाँग लग सकता है, परन्तु क्या कोई ऐसी भी चीज़ है जिसे आस्थापूर्वक प्राप्त न किया जा सके? भारत के राष्ट्रपति का पद-भार ग्रहण करते हुए उन्होंने कहा :

> "हम जीवन से प्यार करते हैं और जीवन की पवित्रता में हमें विश्वास करना चाहिए। यह विश्वास हमें मानसिक बाधाओं तथा नैतिक जड़ता पर विजय पाने की शक्ति देगा। हमें राष्ट्रीय सुरक्षा को विश्व की सुरक्षा से ऊपर नहीं मानना चाहिए। परम सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य पुराना पड़ चुका है। सभी राष्ट्रीय हितों के पीछे कुछ अजेय मूल्य तथा आकांक्षाएँ हैं, जोकि मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति हैं। आदर्शों तथा आकांक्षाओं के समूह के आधार पर हम एक विश्व-समाज निर्मित कर सकते हैं, जोकि राष्ट्रीय मूल्यों की सुरक्षा तथा विश्व की सुरक्षा का परिरक्षण करेगा। यदि नैतिक आवेग हमारे व्यावहारिक प्रतिमान—राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, प्रतिमान को निर्धारित नहीं करते तो भविष्य के लिए संकट (अवश्य) रहेगा।"

क्या यह प्रदीप्त आदर्शवाद उच्च पद प्राप्ति के व्यापक सुखाभास से उत्पन्न हुआ था? निश्चित रूप से नहीं। यहाँ तक कि भारी दबाव के समय भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि चीनी आक्रमण जिसने भारत के लिए दोपहर में भी अंधकार कर दिया, का मतलब केवल यही है कि हमें अपनी रक्षण शक्ति सुदृढ़ करनी चाहिए! यह भी कि परमाणु आयुध से खेलते हुए पड़ोसी देश का भय हमें इस प्रकार वाध्य न करे कि आयुध-स्पर्द्धा के लिए हम आयुध-संग्रहण की भयावह प्रवृत्ति में फँस जाएँ। 1967 में गणतंत्र दिवस की पूर्व सन्ध्या पर राष्ट्र को सम्बोधित

करते हुए उन्होंने कहा :

> "हाल ही में एक फ़िल्म दिखाई गई थी, जो कि आधुनिक युद्ध का चित्रण कर रही थी। बच्चे दर्द से चीख़ते हुए, परमाणुविक कोंध से अन्धे हो गये थे, महिलाएँ अपने बच्चों के मृत शरीर पर करुण-क्रन्दन कर रही थीं, और विकृत हो गये चेहरों वाली लाशें इधर-उधर पड़ी थीं। इसके प्रतिरोध में इसी तरह की प्रतिक्रिया से हम क्या प्राप्त करेंगे? आधुनिक युद्ध पीड़ित हमारी अक्षम्य उदासीनता तथा आपराधिक मौन सहमति के लिए जोकि आज हमारे नाम पर किया जाता है, हमें चीख़ते हुए कोसेंगे। इन विनाशक एवं भयानक आयुधों से बड़ी और क्या भूल हो सकती हे, जो हमारी अपनी ही कायरता, अदूरदर्शिता, स्वार्थपरता तथा क्लान्ति के विरुद्ध हमारी रक्षा कर सके? हमें यह जानना चाहिए कि मानव के प्रति मानव की अमानवीयता का एकमात्र इलाज साहस, ओजस्विता तथा विश्वास है।"

राधाकृष्णन को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर बार-बार बोलना था और उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा पुनराभिव्यक्ति करनी थी तथापि वे आवृत्तिमूलक कभी नहीं रहे। अंग्रेज़ी भाषा पर उनका सुस्पष्ट आधिपत्य तथा संस्कृत एवं महान विचारकों के उद्धरण से वे श्रोताओं को मुग्ध तथा प्रेरित किये रहते थे। बीच-बीच में परिहास का स्पर्श भी राधाकृष्णन की मौखिक विद्वत्ता को बढ़ाता था। उनकी उपस्थिति इस बात का आश्वासन थी कि भारत अपने सौभाग्य की ओर विश्वगुरु के रूप में गतिशील है। जैसा कि आर. वेंकटरमण कहते हैं :

> "राष्ट्रपति राधाकृष्णन हमारी राष्ट्रीय चेतना के मन्दिर में एक 'ध्वजस्तम्भ' (ध्वजास्तंभम्) थे। हमारे बुरे दिनों में वे एक ईमानदार, देदीप्यमान तथा निष्पक्ष व्यक्ति थे तथा हमें उच्चतर उद्देश्य के लिए प्रेरित करते थे। हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के लिए वे एक भावपूर्ण प्रस्तावना थे तथा हमारे सामूहिक चिन्तन के लिए एक पुष्पिका। जहाँ और जब भी उन्होंने देश में भ्रमण किया, वहीं एक कृष्ण-अर्जुन संवाद आयोजित कर दिया और लोगों को भयमुक्त करने, सन्देहमुक्त करने तथा विश्वास और आशा जगाने का प्रयत्न किया। और जब उन्होंने राष्ट्रपति के रूप में अन्य राष्ट्रों की यात्राएँ कीं, जैसे कि सोवियत संघ, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि, तो वहाँ उन्हें एक मनीषी एवं राजनेता के रूप में स्वीकार किया गया। आधुनिक युग में उन्हें प्लेटो के आदर्श दार्शनिक राजा अथवा राजर्षि के समान समझा जाता था, न कि एक देश के मात्र राष्ट्रपति के रूप में। "

10

सार्वभौमिक व्यक्ति

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के एक मुक्त छोर पर पुष्पित राधाकृष्णन की महिमा भारत की राष्ट्रीय विरासत के लिए व्यापक महत्त्व रखती थी। वे एक जागरूक देशभक्त थे, परन्तु देशभक्त होने के टाइप से भिन्न जोकि सही या ग़लत अर्थ में 'मेरा देश'—'मेरा देश' की घोषणा करता है। उन्होंने हमारी कमज़ोरियों पर पर्दा डालने अथवा ग़लतियों को प्रोत्साहित करने की कभी कोशिश नहीं की। परन्तु राष्ट्र की आर्य सम्पदा के विषय में बोलते हुए वे अक्षरशः उद्दीप्त हुए। सार्वभौम की कोई भी वस्तु आर्य सम्पदा की समस्त संस्कृति के बाहर नहीं थी। ऐसी सात्विक देशभक्ति ही उनके लेखों की आधार श्रुति थी और यह अतीत तथा वर्तमान के महान भारतीयों के साथ उनके स्पष्टीकरण में प्रकट हुई। उनका *इण्डियन फिलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) मिल्टन की महत्ता को प्रतिध्वनित करता है, जब वे स्वयं को भुला देने वाले महान चिन्तकों की सूची प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि औपनिषदिक युग को व्यक्त करता हुआ उनका यह उद्धरण :

> "अपने व्यक्तिगत मामलों में वे इतने लापरवाह तथा सत्य के प्रहार हेतु सन्नद्ध थे कि उन्होंने अपने विचारों का प्रवर्तन वैदिक काल के प्रतिष्ठित देवताओं तथा नायकों पर किया। प्रजापति तथा इन्द्र, नारद तथा सनत्कुमार को तर्कशास्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। जब उपनिषद् काल के महान चिन्तकों का इतिहास उनके महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा के साथ लिखा जाएगा तो पौराणिक को छोड़कर निम्नलिखित नाम सामने आयेंगे : महिदास ऐतरेय, रैक्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवाली, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, गार्गायन, प्रतर्दन, बालाकी, अजातशत्रु, वरुण, याज्ञवल्क्य, गार्गी तथा मैत्रेयी।"

यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश अकादेमी में भाषण के लिए राधाकृष्णन ने गौतम बुद्ध को विषय बनाया था। उनके अनुसार, अतीत का कोई भी व्यक्तित्व बुद्ध की बराबरी नहीं कर सकता, जिन्होंने दुख से अभिभूत व्यक्ति के उच्चादर्श के लिए त्याग और विद्रोह, राजत्व तथा भिक्षुत्व को एक साथ जोड़ दिया या समायोजित

कर दिया। बुद्ध का समय जीसस क्राइस्ट से 500 वर्ष पूर्व है, और उन्होंने ईसाइयत् की पूर्णता का सर्वोतम उदाहरण प्रस्तुत किया। एक शांत गरिमामय भारतीय होते हुए तथा एक ऐसे राष्ट्र से सम्बन्धित होते हुए, जोकि सात्विक और आध्यात्मिक था, बुद्ध के प्रत्येक शब्द से इस बात की झलक मिलती है। राधाकृष्णन बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय मे लिखते हैं :

"अपने परम प्रिय अनुयायी आनन्द के सहित वैभव सम्पन्न वैशाली नगर को छोड़कर उन्होने निकटवर्ती पहाड़ी पर आसन जमाया, जोकि अनेक पूजा-स्थलों तथा आश्रयगृहों से सज्ज दृश्य की सृष्टि कर रही थी। उन्होंने आनन्द से कहा : 'चित्रम् जम्बूद्वीपम, मनोरमम् जीविताम् मनुष्यानाम्'– भारतवर्ष रंगपूर्ण तथा समृद्ध है। यहाँ के लोगों का जीवन प्रेमिल तथा मोहक है। आज वस्तुतः मैं तुमसे कहता हूँ, ओ भिक्षुओ! सभी वस्तु नश्वर हैं; अपने निर्णय गम्भीरतापूर्वक करो–ये उनके अन्तिम शब्द थे। उनकी आत्मा गूढ़ तन्मयता में निमग्न हो गयी और जब उन्होंने उस स्तर को प्राप्त कर लिया जहाँ पर सभी विचार, सभी धारणाएँ विलुप्त हो जाती हैं, तो उन्होंने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।"

स्वयं को सार्वभौमिक व्यक्ति की अवधारणा के प्रति समर्पित करते हुए राधाकृष्णन स्वाभाविक रूप से अपने समसामयिकों के प्रति आकर्षित हुए, जो संकीर्ण राष्ट्रवाद से बँधे हुए नहीं थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू को श्रद्धापूर्वक देखा। 1913 में जब रविन्द्रनाथ को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया तो राधाकृष्णन ने कवि के दर्शन पर एक पुस्तक तैयार की, जिसे उन्होंने हिन्दू वेदान्त की परम्परा में पाया। यद्यपि उन्हें बाङ्ला का ज्ञान नहीं था और अंग्रेज़ी अनुवादों से ही काम चलाना पड़ता था, फिर भी वे कवि के दार्शनिक पक्ष की गहराई की पूर्णतः थाह लगा सकते थे, जोकि व्यक्ति को परम के साथ जोड़ने वाली अन्तर्दृष्टि की महत्ता का संकेत करती है।

राधाकृष्णन के लिए जो यह मानते थे कि इस विखंडित विश्व में धार्मिक व्यक्ति का धर्मनिरपेक्षवाद, जो पारस्परिक विश्वास-वार्ता पर आधारित था तथा जनता के भजन-कीर्तन कार्यक्रमों के माध्यम से उनके आदर्श को ग्रहण करता था, अविश्वास के मरुस्थल में मानवजाति के लिए एक शुभ संकेत था। राधाकृष्णन गाँधी के असहयोग आन्दोलन से बहुत प्रभावित थे। वह उन्हें पूर्णतः एक आध्यात्मिक आन्दोलन प्रतीत होता था। फ़रवरी 1922 में, जब आन्दोलन अपनी अवयस्कता में ही था, राधाकृष्णन द्वारा लिखित विचारों के आधार पर सर्वपल्ली गोपाल कहते है :

गाँधीजी स्व-शासन प्राप्त करने के लिए मात्र यांत्रिक उपकरणों पर आधारित रहने वाले सांसारिक राजनीतिज्ञ नहीं थे। उन्होंने राजनीति में धर्म को समाहित किया तथा दुनिया के देशों को प्रेम के उच्चादर्श में बदलना चाहा। भारत में इस

आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक ही था। किसी को मात्र यह नहीं कहना चाहिए कि गाँधी सफल होंगे, बल्कि कम-से-कम आत्मा के उपासकों को इस पवित्र प्रयोग की सफलता की प्रार्थना करनी चाहिए जो कि न केवल भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि विश्व के भविष्य के लिए भी।

यह श्रद्धा समय गुज़रने के साथ-साथ और भी गहन होती गयी। गाँधी पर लिखी गयी राधाकृष्णन की कृति 1939 में प्रकाशित हुई शीर्षक था : *महात्मा गाँधी एस्से एण्ड रिफ़्लेक्शन्स (महात्मा गाँधी : जीवन एवं कार्य–निबन्ध तथा चिन्तन)* वे सक्रिय रूप में उल्लसित थे कि आधुनिक राजनितिक चिन्तन का नास्तिकतावाद गाँधीजी द्वारा नकार दिया गया है। धार्मिक आत्मा अब किसी सार्वजनिक सेवक के लिए अभिशाप नहीं रह गयी थी :

> "गाँधीजी के लिए मानव-गतिविधि से अलग कोई धर्म नहीं है। यद्यपि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में गाँधी जी एक राजनीतिक क्रान्तिकारी की तरह लगते थे, जिसने कि तानाशाही अथवा गुलामी को मौन स्वीकृति देना अस्वीकार कर दिया था, परन्तु वे क्रान्तिकारिता की उस असमाधेय शैली से बहुत दूर रहते थे, जो अपनी कल्पना में मनुष्यों को अप्राकृतिक तथा अमानवीय कामों की ओर ठेलती है। अनुभव की अग्नि-परीक्षा में वे निरे राजनीतिज्ञ सुधारक, दार्शनिक अथवा नैतिकतावादी नहीं ठहरते, बल्कि बहुत कुछ इन सभी का सम्मिश्रण और मूलतः सर्वोच्च तथा अधिकांश मानवीय गुणों से भरपूर धार्मिक व्यक्ति, तथा अपनी निजी सीमाओं की चेतना तथा दुर्जेय हर्षानुभूति के द्वारा अत्यधिक प्रेमपात्र व्यक्ति ठहरते हैं।"

गाँधी कोई रहस्यवादी नहीं थे और न ही वे सपनों तथा माया-मोह के शिकार थे, बल्कि उस अंतर्यामी प्रभु के विषय में सजग थे, जोकि समस्त सृष्टि में व्याप्त है। गाँधीजी के प्रभु (ईश्वर) का अस्तित्व वैज्ञानिक विधि से सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु राजनीति के लज्जास्पद, विनाशक वातावरण में ऐसे दैवी व्यक्ति का अस्तित्व अपने आप में ईश्वरीय अस्तित्व का सुस्पष्ट प्रमाण है। और न ही गाँधी एकमात्र उदाहरण, आकस्मिक घटना या विलक्षण विपणन हैं, बल्कि वे तो भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की स्वर्णिम डोर की एक कड़ी हैं, जो कि सार्वभौमिक व्यक्ति के आदर्श को सदैव समर्थन देती थी।

गाँधीजी धार्मिक सहिष्णुता की भारतीय आत्मा का भी प्रतिनिधित्व करते थे। इस्लाम और ईसाई धर्म ने भी उन्हें प्रभावित किया, यद्यपि उनके जीवन की निर्देशक शक्ति स्वाभाविक रूप से हिन्दू धर्म से मिलती थी। गाँधीजी सारांशतः आध्यात्मिकता के सर्वोच्च स्तर से सम्बद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने इस कार्य की तैयारी अपने रचनात्मक

कार्य के निचले स्तर से ही शुरू कर दी थी :

> "गाँधीजी मानवता के सर्वोत्तम सेवकों में से एक हैं। तात्कालिक विनाश की कठिनाइयों का सामना करते हुए वे दूरस्थ भविष्य की सम्भावनाओं से दिलासा नहीं प्राप्त करते थे। उन्होंने बुराइयों के उपचार तथा ख़तरों को रोकने के लिए अत्यधिक सही और सम्भव साधनों द्वारा दृढ़ धारणाओं वाले व्यक्तियों की शक्ति के साथ स्वयं को जोड़ा। लोकतंत्र उनके लिए कोई मुहावरे की चीज़ नहीं, बल्कि एक सामाजिक वास्तविकता है। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में उनकी सभी सार्वजनिक गतिविधियों को तभी समझा जा सकता है, जब हम उनके सामान्य व्यक्ति प्रेम को समझें।"

अधिकांश आधुनिक शिक्षकों के विपरीत, जो कि एक सामान्य सदेच्छा, पारम्परिक नैतिकता अथवा अस्पष्ट सौन्दर्यपरक आकर्षण के जीवन को महत्त्व देते है, गाँधीजी ने पवित्रता के अनुकूल शक्ति तथा कड़ी सच्चाई की ओर संकेत किया। यह पथ-प्रदर्शक अपनी उत्फुल्लता में बहुत मानवीय था। *भगवद्गीता* के अपने अनुवाद को जब गाँधीजी को समर्पित करना चाहा तो गाँधीजी ने पूरी गम्भीरता से कहा : "मैं तुम्हारा अर्जुन हूँ, तुम हमारे कृष्ण हो।"

जब गाँधीजी कि हत्या हुई तो राधाकृष्णन शोक से धराशायी हो गये थे। वह ऐसे विरले व्यक्ति का निधन था, जिसने सार्वभौमिक व्यक्ति की अवधारणा को अच्छी तरह समझा था। सोल कॉलेज, ऑक्सफ़ोर्ड में एक स्मारक भाषण में राधाकृष्णन ने एक बार पुनः महात्मा गाँधी में उस धार्मिक व्यक्ति को आरोपित किया जिसने जैसा कहा वैसा ही किया। वे एक ऐसे नायक थे, जिनके हृदय और होठों में दुनिया से जाते हुए भी राम का ही नाम रहा। निश्चय ही गाँधी सार्वभौमिक व्यक्ति के विकास में अगली सीढ़ी के एक प्रतीक थे :

> "गाँधीजी का यह विश्वास था कि अपनी गहनतम जड़ों तथा सर्वोच्च आकांक्षाओं में विश्व एक है। वे जानते थे कि ऐतिहासिक मानवता का उद्देश्य एक विश्व-सभ्यता, एक विश्व-संस्कृति तथा एक विश्व समुदाय विकसित करना है। हम इस दुनिया के दुख से तभी मुक्ति पा सकते हैं, जब हम मनुष्यों के हृदय में गहरे जमे अँधेरे को बाहर निकाल देंगे और उसके स्थान पर समझ तथा सहिष्णुता को स्थापित करेंगे। गाँधी का सवेदनशील तथा उत्पीड़ित हृदय उस विश्व की घोषणा करता है, जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ सृजित करना चाहता है। लुप्तप्राय अतीत का यह अकेला प्रतीक उस नये विश्व का अग्रदूत भी है जो उत्पन्न होने के लिए संघर्ष कर रहा है। वे भावी मनुष्य के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

जवाहरलाल नेहरू को एक 'धार्मिक व्यक्ति' नहीं कहा जा सकता, परन्तु राधाकृष्णन ने आत्मा के सच्चे धर्म तथा निरर्थक मतवाद में उलझे पन्थवादी धर्म के बीच सदैव अन्तर किया। अतः वे आध्यात्मिक होने के लिए नेहरू पर भी श्रद्धा रख सकते थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए वे यथार्थ के आनुभविक मार्ग में रुचि लेते थे। गाँधी की तरह नेहरू भी भावी मानवता के अग्रदूत थे। "यह सर्वाधिक प्रिय तथा उदारचेता व्यक्ति आने वाले युग की एक 'पेशगी' है, ऐसे युग की जो विश्व-मानवता के लिए विश्व अनुकम्पा से परिपूर्ण होगा।"

वास्तव में उस महान व्यक्ति के प्रति उसके जीते जी राधाकृष्णन इसलिए प्रतिक्रिया दे सके, क्योंकि वह भी उसी विश्व-दृष्टि की उमंग से क्रियाशील था। अनेक चिन्तकों द्वारा उनके जीवन काल में ही उन्हें प्राप्त प्रशस्तियों से कई शानदार ग्रन्थ तैयार किये जा सकते हैं। सी.ई.एम. जोड के लिए वे एक 'सेतु निर्माणक' थे, जो कि उन अपारदर्शी पर्दो को गिरा देगा, जिन्होंने एक भू-भाग को दूसरे भू-भाग से विभाजित कर रखा है तथा संस्कृतियों को बाँट रखा है। आधुनिक युग एक एकीकृत, अंगभूत सामाजिक सत्य (यथार्थता) के प्रति प्रेरित है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम मानव जाति की मूल आध्यात्मिक एकता को स्वीकार करें। राधाकृष्णन ऐसी एकता के उद्‌भट वक्ता थे। अतीत और वर्तमान का सामञ्जस्य बनाना चाहिए तथा समस्त विश्व को भ्रातृत्व-भाव को अपनाना चाहिए। राधाकृष्णन एकता की संकट घंटी को सँवारते हुए कभी थके नहीं। इसीलिए जार्ज पी. कांगर ने राधाकृष्णन की यात्राओं को आकर्षण तथा प्रशंसा की दृष्टि से देखा है :

> "बनारस और ऑक्सफ़ोर्ड में उनकी अनोखी दोहरी नियुक्ति एक बुनकर की तरह थी, जिन्हें समझदारी का धागा लेकर इधर-उधर पूर्व तथा पश्चिम जाना पड़ता था ताकि सभ्यता का ताना-बाना खड़ा किया जाए। हम उन्हें सुनते हैं और उसकी अनुगूँज चीन, दक्षिण अफ्रीका, शिकागो तथा मैक्सिको शहर में सुनाई देती है। यूनेस्को में वे सहज ही एक चमकती हुई प्रतिमा थे। बाद में अनेक प्राचीन, किन्तु उत्सुक युवा मातृ-देश ने उन्हें अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजदूतों में से एक घोषित किया। अपवादस्वरूप मार्क्स आरेलियस को छोड़कर दार्शनिक कभी राजा नहीं होंगे, परन्तु कभी-कभी दार्शनिक भी अपने समसामयिकों में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे कोई भी राजा ईर्ष्या कर सकता है।"

राजदूत पद के बाद उन्होंने उपराष्ट्रपति का पद सँभाला। जब वे भारत के राष्ट्रपति बने तो अपने आप एक नए युग में आ गए, परन्तु सार्वभौमिक व्यक्ति होने के नाते अपने उल्लेखनीय मौखिक सन्देश के कार्य से मुक्ति कहाँ थी? मैल्कम

आदिशेषय्या प्रमाण जुटाते हैं कि राष्ट्रपति के रूप में राधाकृष्णन ने संस्कार सदस, हज़रत ख़्वाजा निजामुद्दीन का उर्स, गुरु नानकदेव का जन्मदिन, वौद्धों की विश्व फ़ेलोशिप, पोप का स्वागत, विश्व हिन्दू धर्म तथा अन्य महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं दार्शनिक अवसरों पर व्याख्यान दिये। मैल्कम के शब्द हैं :

> "इसी तरह सभी राष्ट्रों के मैत्री-दर्शन ने उन्हें भारत तथा विदेशों में 102 व्याख्यान देने को प्रेरित किया, जैसे वल्गेरिया, सूडान, सउदी अरव, संयुक्त अरव अमीरात, अमेरिका, सोवियत संघ आदि। राष्ट्रपति के रूप में उनके सर्वाधिक प्रगतिशील व्याख्यान उस समय हुए जव वे शैक्षिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर वोल रहे थे और सन्देश को समाहित कर रहे थे कि सभी विषयों का एक ही लक्ष्य है—विश्वविद्यालय; जो सार्वभौम का स्पर्श है, व्यक्ति की पवित्रता है, ज्ञान, विवेक, समर्पण तथा विश्वास का विवेक आधारित गुण के रूप में।"

प्रख्यात विद्वान को उसके साठवें जन्मदिन पर जव एक पुस्तक *राधाकृष्णन : कम्परेटिव स्टडीज़ इन फ़िलोसॉफी (राधाकृष्णन दर्शन में तुलनात्मक अध्ययन)* प्रस्तुत की गई तो उस पुस्तक के संपादकों—डी. एम. दत्ता तथा पी. टी. राजू ने उन्हें वस्तुतः पूर्व एवं पश्चिम के वीच एक 'सम्पूर्ण-अधिकारी' के रूप में चित्रित किया तथा विश्व चिन्तकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन प्रवण कोशिशों के लिए उनकी प्रशंसा की। अंगभूत विचारों के अथक प्रसार के लि् उन्हें धन्यवाद; पाश्चात्य विद्वानों को निर्देशित करने की आवश्यकता में पूर्व को मान्यता मिली तथा पश्चिम ने यह अनुभव किया कि यदि पूर्व की आध्यात्मिकता का सही ज्ञान प्राप्त हो तो 'प्रचण्ड' प्रतियोगिता पर विजय पाने का रास्ता निकल सकता है तथा आन्तरिक एवं वाह्य शान्ति प्राप्त की जा सकती है, जिसका कि अभी तक अभाव है।'

यहाँ उस प्रशस्ति-पत्र का भी उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जो भारतीय विद्या भवन के कुलपति के. एम. मुंशी ने उन्हें 'ब्रह्मविद्या-भास्कर' की उपाधि प्रदान करते हुए दिया था। इसमें उनके उस सद्भावनापूर्ण सामञ्जस्य के लिये उल्लेखनीय योगदान की चर्चा है, जो पूर्व-पश्चिम की संस्कृतियों में सर्वाधिक श्रेष्ठ, आदर्श तथा प्रेरक है तथा जाति, देश और समय सीमाओं को लाँघते हुए एक नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रस्तुति है। वास्तव में जव भी राधाकृष्णन की चर्चा आती है, उनका यह पक्ष तत्काल हमारी दृष्टि में आ जाता है। (पॉल्स मार ग्रेगोरियस ने विश्व एकता के उनके विचार को उपनिषदों के इस उद्धरण से पता चलता है :)

> "ईश्वर के साथ भौतिक (तात्त्विक) एकता का तात्पर्य है ईश्वर के माध्यम से एक-दूसरे के साथ एकता। उच्च जागरूकता की अनुभूति में हम विश्व

को नहीं भूलते, जोकि विलक्षण रूप से एक हिस्सा प्रतीत होता है। हम लोग प्रादेशिकतावाद से एक ऐसे परिदृश्य में डाल दिये गये हैं, जहाँ हम विश्व से कुछ वृहत्तर, व्यापकतर, गहनतर तथा अधिक पूर्णता का अनुभव करने लगे हैं या उसके विषय में जान गये हैं।"

पॉल्स ग्रेगोरियस राधाकृष्णन को 'विश्वमानव' के रूप में मानते है। तथापि राधाकृष्णन की सार्वभौमिक दृष्टि विविध संस्कृतियों के अपने देशज विकास के मार्ग में आड़े नहीं आयी। चीन की तरह बलात् सांस्कृतिक एकीकरण उनके विचार में कहीं नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को शान्ति तथा परस्पर समृद्धि में शामिल महान परिवार के रूप में देखा। यदि राष्ट्र अपने राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में लोकतांत्रिक होना चाहते हैं तो वे इसे स्वाभाविक रूप से शान्तिपूर्वक प्राप्त कर सकेंगे। राधाकृष्णन असम्भव आदर्शवादी यूटोपियन स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनेतृत्व के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग थे तथा यह जानते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनय के तनावों में आदर्श की किस तरह निरंतर दुर्गति हो रही है। परन्तु उनमें विपुल विश्वास था और उनका यह विश्वास परमाणविक राक्षस के मुकाबले भी अडिग रहा।

मार्गरिट चटर्जी ने राधाकृष्णन के भावी व्यक्ति की 'अंगभूत चेतना' तथा 'विश्व आत्मा' की सम्भावनाओं से सम्बन्धित उनके विचारों पर श्रीअरविन्द के प्रभाव को खोज निकाला है :

"प्लेटो से लेकर श्रीअरविन्द तक चिन्तन की एक निश्चित धारा का पता लगाया जा सकता है, जिसके अनुसार संस्थाएँ एक आन्तरिक प्रतिपक्षी (काउंटर पार्ट) का प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रतिपक्षी को जन्म देना है तथा इसका पालन-पोषण करना है। राधाकृष्णन ने सदैव आदर्शवाद तथा सामान्य समझ के बीच एक सतर्क संतुलन क़ायम रखा। इस विवेक के कारण वे विश्व-आत्मा के सिद्धान्त का आह्वान करने तथा यह कहने में सक्षम थे कि 'एक नये प्रकार का राजनय संगठित करना है, जोकि युद्ध अथवा युद्ध की धमकी पर आधारित न हो।' मानव हृदयों में परिवर्तन तथा अपने उपयुक्त संस्थात्मक उपकरण के साथ एक नयी शान्ति स्थापक शैली की आवश्यकता थी। यहाँ श्रीअरविन्द की प्रतिध्वनि क़ायम है, परन्तु संघर्ष समाधान की व्यावहारिक अपेक्षाओं के साथ अपने स्वर में बदल गयी है।"

एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व, एक व्यावहारिक आदर्शवादी और इन सबके बावजूद कुछ अपरिहार्य समस्याओं में भी, जिनसे भारत पीड़ित हुआ, यह देश लोकतांत्रिक

बना रहा तथा राष्ट्रों के शिष्टाचार में भी निर्देशक स्वरूप इसका उच्च स्थान बना रहा, तो इसका बहुत बड़ा श्रेय राधाकृष्णन को जाता है जोकि 1947 में भारतीय स्वाधीनता के प्रारम्भिक निर्णायक वर्षों के दौरान रूस में हमारे राजदूत तथा हमारे उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति के रूप में हमारे साथ रहे।

11

शैली ही व्यक्ति है

प्रायः पूर्ण तकनीकी के इस युग में सर्वाधिक कुतूहलपूर्ण घटनाओं में से एक घटना राधाकृष्णन के व्यापक श्रोता-समूहों की थी, जो कि दर्शनशास्त्र पर उनके भाषणों को सुनने के लिए एकत्र होते थे। क्या दर्शन रुचिकर हो सकता है? हाँ दर्शनशास्त्र को भी उन्होंने विद्यार्थियों के लिए उत्साहित करने वाला विषय बना दिया। किसी विषय को हमेशा सुगम बनाना और लोकोत्तर से उतार कर उसे मनोरंजक बना देना किसी के लिए भी आसान नहीं होता, यदि आत्मपरक अनुशासनों के साथ स्वतंत्रताएँ भी ध्यान में रखी जायें, जैसे कि धर्म तथा दर्शन। राधाकृष्णन एक वहुत अच्छे कक्षा-अध्यापक थे, जिन्होंने उनमें नियमित व्याख्यान दिये, टिप्पणियों तथा विवरणों को निर्देशित किया तथा उत्तर-पत्रों को सुधारा। परन्तु वे इससे कुछ अधिक भी थे। उन्होने स्वयं को ज्ञान के विस्फोट के सामने रखा और इसीलिए उनकी टिप्पणियाँ सुब्बा राव के अनुसार,'उबाऊ तथा घिसी-पिटी नहीं होती थीं वे मस्तिष्क एवं स्मृति में अलिखित (अप्रमाणित या पहले देखी-सुनी न गई) रूप से आती थीं; वे अधुनातन तात्कालिक भाषणों मे कौशल भरी होती थीं, जोकि स्वयं उन्हें भी लगातार मौलिक तथा ताज़ा बनाती थीं।'

डी. अंजनेयुलु ने दर्शनशास्त्र के एक शिक्षक रूप में उनकी सफलता का आंशिक विश्लेषण किया है। राधाकृष्णन ने तुलनात्मक पद्धति का उस समय व्यापक प्रयोग किया, जब इसका प्रयोग प्रायः नगण्य था। इस पद्धति ने एक तो विषय को समझना आसान वनाया और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान क्षितिजों को व्यापक किया। राधाकृष्णन ने इसी तरह अन्तःअनुशासनीय दृष्टिकोण अपनाया। धर्म और दर्शन को साहित्य, इतिहास, राजनीति तथा विज्ञान के माध्यम से परिभाषित किया गया :

> "शास्त्रीय पृष्ठभूमि के साथ समसामयिक सम्वेदनशीलता ने अतीत के साथ वर्तमान को समायोजित करने के सजग प्रयास में राधाकृष्णन की स्थिति को मज़बूत किया। इसने उन्हें एक रचनात्मक व्याख्याकार के रूप में स्वयं उनके द्वारा चुनी गई भूमिका में पूर्णतः उपयुक्त ठहराया। वे ऐसे स्वामिभक्त इतिहासकार से बिलकुल भिन्न थे, जोकि पवित्र तथा परम्परागत ग्रन्थों की

संकीर्ण तथा शुष्क समीक्षा करता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दर्शन तथा महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व शैक्षिक चिन्तन की दुनिया से पृथक् नहीं था। एक गतिशील सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा के नवीनतम तथा परिष्कृत प्रतिफल हमारे अतीत में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बुद्ध, महावीर तया कवीर तक जा रहे हैं।"

एक लेखक तथा वक्ता के रूप में अंग्रेज़ी भाषा में राधाकृष्णन की प्रभुता उनके समस्त जीवन में काम आयी। यदि उन्होंने भारतीय श्रोताओं को अंग्रेज़ी भाषा की अपनी मधुरता से मुग्ध किया तो अपने आंग्ल श्रोताओं को दुरूह दार्शनिक समस्याओं को समझाने के लिये भाषा के सृजनात्मक प्रयोग से प्रेरित किया। उनके सभी व्याख्यान बौद्धिकता भरी चमकदार सूक्तियों से मण्डित रहते थे। श्रोता यह अच्छी तरह जानते थे कि यह कोई जादूगर नहीं है जो उन्हें निरन्तर धोखा देने अथवा रहस्यमय बनाने आया है। उनके सामने एक निर्देशक था जोकि ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने में उनकी अगुवाई कर रहा था। मॉनचेस्टर तथा लन्दन में हिब्बर्ट व्याख्यानों के लिए राधाकृष्णन के स्वागत को लेकर सर्वपल्ली गोपाल लिखते हैं :

"किसी दार्शनिक विषय पर सार्वजनिक भाषण सुनने के लिए इन दोनों स्थानों पर प्रथम महायुद्ध के बाद सर्वाधिक भीड़ देखने को मिली। और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उपस्थित श्रोताओं में अधिकांश युवक-युवतियाँ थीं, जो अपनी कक्षाओं से आये थे ; अधिकारी थे और कारीगर भी थे। वे एक गम्भीर धार्मिक व्यक्ति को सुन रहे थे, जोकि एक ऐसी पीढ़ी को धर्म-दर्शन समझा रहा था जो अपने धर्म तथा गम्भीर धार्मिक जीवन का बहुत बड़ा भाग खो चुकी थी। लन्दन में दिये गए अन्तिम भाषण के बाद श्रोता वक्ता से हाथ मिलाने के लिये एक पंक्ति में खड़े हुए और अधिकांशतः उन्होंने जिन्हें वे नहीं जानते थे, राधाकृष्णन को उनकी अभिव्यक्ति के लिये यह धन्यवाद पत्र लिखा—'आपके रूप में एक महान स्वप्न साकार हुआ है, पूर्व अपना निजी सन्देश हमारी अपनी भाषा में लेकर आ रहा है, जो कि पश्चिमी चिन्तन के बारे में सब कुछ जानता है।'"

यही वह सन्दर्भ है, जिसमें राधाकृष्णन का भारतीय साहित्य के एक निर्माता के स्वरूप अभिवादन करना चाहिए। यद्यपि वे एक वक्ता के रूप में आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके लेख हमारे लिए सृजनात्मक ऊर्जा के स्रोत हैं। सरल एवं प्रवाहपूर्ण अंग्रेज़ी वाक्यों के साथ संस्कृत शब्दों की भावपूर्ण झड़ी स्पष्ट तथा निर्मल चिन्तनपूर्ण उनके लेखों को गुणज्ञ का प्रकाश बनाती है।

यहाँ पर वाग्मिता तो है, पर नाटकीयता नहीं। राधाकृष्णन सामान्य समझ के शब्दों का प्रयोग स्वीकारते हैं तथा आलंकारिता को पूर्णतः नकार देते हैं, ठीक

उसी तरह जैसे कोई तकनीकीविद् काम कर रहा हो और प्रभावकारी उपकरणों का समाकलन कर रहा हो। प्राच्य चिन्तन को पाश्चात्य मस्तिष्क के लिए ग्रहणशील बनाने के लिए यह एक विवेकपूर्ण प्रयत्न था, क्योंकि प्राच्य चिन्तन को डरावना रहस्यवाद मानकर पश्चिम में आलोचित किया गया था तथा वैदिक परम्परा को बर्बर सर्वेश्वरवाद मानकर अस्वीकृत कर दिया गया था। जब हम उनके *'रिलीजन एण्ड सोसाइटी'* तथा *'धर्म और समाज'* को पढ़ते हैं तो राधाकृष्णन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सुप्रीम (ईश्वरीय सत्ता) की अगोचर कल्पना के विषय में दिखती है, जो प्रख्यात् चिदम्बरम् मन्दिर को सम्बोधित है :

> "नटराज के रूप में शिव को समर्पित चिदम्बरम् मन्दिर के पवित्र गर्भगृह में न तो कोई प्रतिमा प्रतिकृति है और न ही अभिलेख। पूजा किसी देवता की सीमित सत्ता को निर्देशित नहीं है बल्कि समस्त ब्रह्माण्डीय आत्मा को समाहित करने वाली सत्ता के प्रति है, जो रूपहीन है, फिर भी सभी रूपों को धारण करता है, उसमें ऐसा प्रकाश है जो सभी प्रकाशों का स्रोत है। एक अँधेरे कमरे में अनावृत भित्ति पर एक माला टँगी है, दृश्य तथा स्पृश्य जो अदृश्य और अस्पृश्य के गले में झूल रही है।"

पश्चिमी लोगों के लिए, हिन्दू धर्म की ग़लत व्याख्याओं के सम्बन्ध में राधाकृष्णन ने संतुलित वाक्यों में पौराणिकी का स्पर्श करते और संस्कृत शब्दों को मिलाते हुए स्पष्टीकरण दिया। भारत कोई अविवेकपूर्ण मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं है, बल्कि संस्कृति है जो सर्वोच्च सत्य को जानती है और कल्पना तथा इसी तरह अकल्पना के सहारे सामान्य लोगों की चेतना में उतर जाने की क्षमता रखती है। एक ऊँची-लम्बी देहयष्टि वाले उत्सुक किन्तु शान्त चेहरे, चमकीली आँखों और सफ़ेद पगड़ीदार व्यक्ति के मुख से निकलते शब्द श्रोताओं को एक निश्चिन्तता के साथ बरबस आकृष्ट कर लेते हैं।

राधाकृष्णन कोई धर्म प्रचारक नहीं हैं और न उनके लेखों में स्वप्निल एवं कल्पित उड़ानें हैं। न तो शैक्षिक लफ़्फ़ाजी है और न ही अपरिष्कृत विद्याडम्बर। राधाकृष्णन के लिए शैली ही व्यक्ति थी, या है। उन्होंने वही कहा और लिखा, जोकि वह थे : मूर्तिमान विद्वत्ता तथा सामान्य समझ के व्यक्ति। एक ऐसा व्यक्ति, जो चिन्तन और विशलेषण कर सकता है तथा स्वयं को राधाकृष्णन के श्रोता-पाठकों को बौद्धिक स्तर पर ले आता है, वह उन्हें अपने उच्च स्तर तक उठाते हुए एक आदर्श शिक्षक, एक प्रभावशाली सज्जन तथा अनुकूल सम्वेदना से परिपूर्ण व्यक्ति समझेगा।

राधाकृष्णन की पुस्तकों को यों ही कहीं से भी खोलिये। पहली चीज़ जो हमें आकर्षित करती है, वह है उनमें व्यक्त विराट विद्वत्ता। जीवन-भर उन्होंने एक

भुक्खड़ लालची पाठक बने रहकर और विलक्षण स्मरणशक्ति की अनुकम्पा से इच्छित उद्धरणों को मुक्त भाव से बाँटा। यह उनके प्रथम अध्ययन का ही परिणाम है। क्या यह उस व्यक्ति के लिए सम्भव था, जिसके पास एक प्रशासक, राजदूत तथा राष्ट्रपति के रूप में उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यसूची थी? फिर भी, राधाकृष्णन अक्षरशः अपनी पुस्तकों के साथ जिए। भारतीय राजदूत के रूप में राधाकृष्णन के स्वागत की तैयारी कर रहे स्टालिन ने कहा था कि मैं उस राजदूत से मिलना पसन्द करूँगा जो अपना सारा समय उत्कृष्ट लेखन में व्यतीत करता है।"

वास्तव में, पुस्तकें राधाकृष्णन के लिए एक दूसरी प्रकृति ही बन गयीं थीं। *'इण्डियन फ़िलासॉफ़ी' (भारतीय दर्शन)* जिसने उन्हें मात्र पैंतीस वर्ष की उम्र में ही अविस्मरणीय प्रसिद्धि दिलायी, कठिन लेखकीय परिश्रम का प्रमाण है। इस पुस्तक ने उन्हें स्थायी ख्याति तक पहुँचाया। उनकी कृतियाँ उद्धरणों से अलंकृत हैं, प्रत्येक पृष्ठ पर विचारोत्तेजक उद्धरणों वाली टिप्पणियाँ हैं, जोकि हमारी समझ के क्षितिज को बढ़ाती हैं। चाहे सावधानी और योजनाबद्ध तरीके से लिखा गया वृहत ग्रन्थ हो अथवा एक संक्षिप्त समीक्षा; सभी कुछ राधाकृष्णन के लिए एक जैसा कार्य था। यों भी एक विद्वान को अपने प्रेरक आह्वान के लिए पूरी तैयारी से सामने आना चाहिए। वे इस्लाम पर सर अहमद हुसैन की टिप्पणियों की मात्र एक समीक्षा लिखते हुए भी ए. ई., अमीर अली, जलालुद्दीन रूमी, दारा शिकोह, आगा ख़ान, बाइबल, सर अब्दुर्रहीम, सर चार्ल्स टाउनशें, ले हन्ट, अल-हुजीवीरी, चैतन्य, कबीर और नानक के लिए जगह छोड़ देते हैं।

परन्तु राधाकृष्णन की सुस्पष्ट चिन्तन शक्ति हमें वशवर्ती बना लेती है और हम स्वयं को कभी भी परिपूर्ण अनुभव नहीं करते। संक्षेप में, इस्लामी सिद्धान्तों के बारे में वे हमें अच्छी जानकारी देते हैं और क़ुरान से उदारतापूर्वक उद्धरण देते हुए तुलनात्मक रूप से एक उपयोगी सुझाव सामने रखते हैं। वह पूरक उद्धरण है :

> "दूसरों के विश्वासों को न जानना अन्याय और त्रुटियों को पैदा करता है। असंस्कारित अशिक्षित मुसलमानों के कुछ तरीक़ों ने इस्लामी आदर्शों के प्रति हिन्दुओं की आँखों को बन्द कर दिया है हालाँकि इस्लाम के लिए हिन्दू धर्म की सहानुभूतिपूर्ण समझदारी से सीखने के लिए बहुत कुछ है, लेकिन हिन्दू धर्म के लिए भी इस्लाम से सीखने को बहुत कुछ है। हमें अपनी संस्थाओं को भी लोकतांत्रिक बनाना सीखना चाहिए तथा यह भी सीखना चाहिए कि ऐसी विवादग्रस्त अविवेकपूर्ण रूढ़ियों और दमनकारी संस्थाओं को किस तरह त्यागा जाए, जिनके दबाव में मनुष्य की आत्मा पूर्णतः कुचल दी जाती है। इस्लाम तथा हिन्दू धर्म दोनों अपने सर्वोत्तम प्रयत्न में उस सत्य धर्म की शिक्षा देते हैं, जो कहता है कि

सत्य तथा पवित्रता में ईश्वर की सेवा करो तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों में उसके नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करो।"

राधाकृष्णन की शैली उनके जीवन में शीघ्र ही परिपक्व हो गयी थी। *'इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी'* (भारतीय दर्शन) का प्रथम भाग तव प्रकाशित हुआ, जब वे 35 साल के थे। एक युवा विद्यार्थी स्कॉलर के लिए यह एक भारी उत्तरदायित्व था, किन्तु इसकी प्रस्तावना में किसी प्रकार की अनिश्चितता अथवा खेद प्रकाश नहीं है :

"वैदिक कवियों (उक्तियाँ) के सहज कथन, उपनिषदों का आश्चर्यजनक अर्थगाम्भीर्य, बौद्धों के चमत्कारिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, तथा शंकर की विस्मयकारी व्यवस्था आदि सांस्कृतिक विचार दृष्टि से बिलकुल उसी तरह रोचक तथा संकेतक हैं, जिस तरह प्लेटो और अरस्तू अथवा कांट और हीगेल की व्यवस्थाएँ (सिद्धान्त) सिद्धान्त ; लेकिन तभी जबकि हम अतीत के प्रति असम्मान अथवा विदेशी दोष-दृष्टि से मुक्त होकर केवल सच्ची वैज्ञानिक विचार दृष्टि से उनका अध्ययन करें। भारतीय दर्शन की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली, जो कि अंग्रेज़ी में आसानी से व्यक्त नहीं की जा सकती, बौद्धिक परिदृश्य की सुस्पष्ट विलक्षणता की माँग करती है। यदि बाहरी कठिनाइयाँ हल कर ली जाएँ, तो हम मानव हृदय की सादृश्य धड़कनों को महसूस करते हैं, क्योंकि मनुष्य न तो भारतीय है और न यूरोपीय।"

भारतीय दार्शनिक-पारिभाषिक शब्दावली को बोधगम्य अंग्रेज़ी में प्रस्तुत करना सरल नहीं था। सौभाग्य से, राधाकृष्णन के पास इच्छाशक्ति थी और रास्ता स्वयं खुल गया। फिर भी प्रारम्भ में यह आसान नहीं था। सर्वपल्ली गोपाल लिखते है :

"म्यूरहेड, जिसने कि *भारतीय दर्शन* के दो खण्डों को अद्वितीय 'दर्शन पुस्तकालय' में शामिल करने की योजना बनायी थी, और जो इस दर्शन शृंखला का स्वयं भी एक सम्पादक था, क्योंकि संस्कृत उद्धरणों एवं विशेषक चिह्नों का रोमन लिपि में लिप्यन्तरण बड़ा कठिन था। इसलिए उसने अन्तिम निर्णय प्रकाशकों -- जार्ज अलेन तथा अनविन पर छोड़ दिया। प्रकाशन प्रमुख, स्टेनले अनविन इस पुस्तक की सम्भावनाएँ देखकर अत्यन्त चकित था और उसने स्वीकार किया कि कुछ वर्षों में पुस्तक की धीमी बिक्री भी प्रारम्भिक भारी लागत को शीघ्र पूरा कर लेगी।"

शैलीगत रूप से पूर्व तथा पश्चिम और अतीत की ओर इस ग्रन्थ की गति एक अद्‌भुत बात थी। राधाकृष्णन पश्चिम से एक उपयुक्त 'समानान्तर' प्रस्तुत करते थे, और पूर्व जब अपने अलंघ्य रहस्य की ओर वापस आता दिखाई देता

था तो यह 'समानान्तर' पाठक को सतर्क अध्ययन में पीछे खींचता था। उदाहरणार्थ, 'निसत्ता' अनिसत्ता या 'निःजीव' (आत्मविहीनता) के रूप में सार्वभौम (यूनिवर्स ब्रह्माण्ड) के सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि संसार एक अवास्तविकता है, परन्तु अस्तित्वविहीन नहीं है तो फिर हमें बुद्ध की प्रारम्भिक शिक्षाओं के विषय में क्या करना चाहिए, जो कि विश्व का एक आत्मपरक विवेचन प्रस्तुत करती हैं? अतः राधाकृष्णन कहते हैं :

> "पहला अधिक वर्कलेवादी है, जबकि दूसरा अधिक कांटवादी। हम कह सकते हैं कि बाद वाले का विवेचन शापेनहॉवर की उपकल्पनाओं तक ले जाता है कि तात्त्विक सिद्धान्त जीने की इच्छा है, और वस्तु तथा व्यक्ति जीने के लिए एक इच्छा के विभिन्न विषयीकरण हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रस्तावित किया जाता है कि हमारी अपूर्णता अर्थात् अज्ञानता एक अविरल सार्वभौमिक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया को अलग-अलग व्यक्तियों और वस्तुओं के रूप में तोड़ती है।"

राधाकृष्णन अपनी इस शैली में लगभग आधी शती तक लगातार काम करते रहे। और इसमें वे कभी भी उपहार के पात्र नहीं बने। आन्तरिक उत्साह-ज्वाला, जिसने उनकी प्रारम्भिक कृतियों, जैसे *'द हिन्दू व्यू आव लाइफ़'* (*जीवन की हिन्दू विचार दृष्टि*), *'द हार्ट आव हिन्दुस्तान'* (*भारत का हृदय*) को प्रदीप्त किया, वही स्थिरता एवं सोद्देश्य उज्ज्वलता 1960 के दशक से सम्बन्धित कृतियों, जैसे कि *'रिलीजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड'* (*बदलते विश्व में धर्म*) में भी प्रदीप्त हुई। अविच्छिन्न प्रयत्न, व्यापक अध्ययन तथा स्वस्थ बौद्धिक कार्य तब भी जारी रहे, जब वे गतिमान घटनाओं के धुँधलके में थे और सार्वजनिक जीवन की बेड़ियों में जकड़े हुए थे। इसके बावजूद वह शैली हमें आज भी प्रेरित करती है, क्योंकि वह व्यक्ति जिसने क़लम थामी, एक उत्कृष्ट प्राणी था।

निष्कर्षतः, प्रोफ़ेसर के. आर. श्रीनिवास आयंगर के शब्दों में :

> "स्मृति और उद्यम, उत्सुकता एवं कार्य की समझ, अनुकूलन तथा किसी भी तरह की चुनौतियों का सामना करने वाली तत्परता—सभी गुणों का एक प्रभावोत्पादक समुच्चय तैयार करते हैं। यहाँ ये सभी अकेले उस परिघटना को परिभाषित नहीं कर सकते, जो कि प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन हैं। बिना आत्म-कोष आन्तरिक सन्तुलन और गुप्त ऊर्जा के अन्य सभी निधियाँ पर्याप्त नहीं गिनी जा सकतीं। और आत्मा जिसने कि हमारे प्राचीन ऋषियों और आचार्यों को संचालित तथा समृद्ध किया, प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन के लिए अपरिचित नहीं है, और वह मात्र यही है जोकि आधी सदी में व्याप्त उनके कार्यक्षेत्र की महिमा को प्रकट करने की क्षमता रखती है।"

सन्दर्भ ग्रन्थ

डॉ॰ राधाकृष्णन की रचनाएँ

द इथिक्स ऑफ़ द वेदान्त एण्ड इट्स मेटाफ़िज़िकल प्रीजम्पशंस (1908)
द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर (1918)
द रेन ऑफ़ रिलिजन इन कंटपररी फ़िलॉसफ़ी (1920)
इंडियन फिलॉसफ़ी, दो भाग (1923, 1927)
द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ (1927)
द रिलिजन वी नीड (1928)
कल्कि अथवा द फ़्यूचर ऑफ़ सिविलाइज़ेशन (1929)
द हार्ट ऑफ़ हिन्दुस्तान (1932)
एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़ (1932)
ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलिजन (1933)
ईस्टर्न रिलिजंस एण्ड वेस्टर्न थॉट (1939)
एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड थॉट (1944)
रिलिजन एण्ड सोसाइटी (1947)
द भगवद्गीता (1948)
द धम्मपद (1950)
द प्रिंसिपल उपनिषद्स (1953)
रिकवरी ऑफ़ फ़ेथ (1955)
ईस्ट एण्ड वेस्ट (1955)
द ब्रह्मसूत्र (1961)
रिलिजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड (1967)
राधाकृष्णन रीडर : एन एंथोलॉजी (1969)

डॉ॰ राधाकृष्णन पर अन्य लेखकों की पुस्तकें :

श्रीअरविन्द, द फाउण्डेशंस ऑफ़ इंडियन कल्चर (1953)
सर्वपल्ली गोपाल राधाकृष्णन : ए वायोग्राफ़ी (1989)
के. आर. श्रीनिवास आयंगर, इंडियन राइटिंग इन इंगलिश (1983) और ए न्यू डील फॉर आवर यूनिवर्सिटीज़ (1951)
वप्पूलूरि कालिदास, द राधाकृष्णन नम्बर (1962)
के. एस. मूर्ति एण्ड ए. वोहरा, राधाकृष्णन : हिज लाइफ़ एण्ड टाइम्स (1989)
जी. पार्थसारथी एण्ड डी.पी. चट्टोपाध्याय (संपा.) राधाकृष्णन : सेंटनरी वाल्यूम (1989)

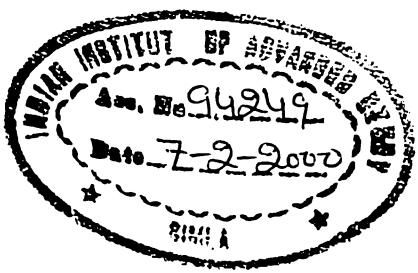

विद्यार्थी, जीवनी-लेखक, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री तथा राजनेता **डॉ. राधाकृष्णन** विश्व-इतिहास के उन इने-गिने मनीषियों में से थे, जो जीविका से दार्शनिक होते हुए भी एक महान राष्ट्र के प्रमुख के रूप में उभरे। उन्होंने भारतीय दर्शन और संस्कृति पर बहुत-सी पाण्डित्यपूर्ण रचनाएँ कीं। यह उनके अथक प्रयत्न का ही फल था कि पूर्व पश्चिमी विज्ञान की विशेषज्ञता प्राप्त कर सका और पश्चिम ने भारतीय दर्शन को 'आन्तरिक शान्ति' के मार्ग स्वरूप स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस की। अंग्रेज़ी भाषा तथा संस्कृत की असाधारण योग्यता तथा सुविधा ने उनके लेखन को गुणधर्मी प्रकाश में परिवर्तित कर दिया; और इस कारण शिक्षित भारतीयों का एक बड़ा वर्ग, जो कि अभिजात विद्वत्ता के क्षेत्र में कोई औपचारिक आधार नहीं रखता था, अपनी समृद्ध दार्शनिक विरासत से परिचित हुआ।

शिक्षा के प्रति **डॉ. राधाकृष्णन** की आजीवन प्रतिबद्धता भारतीय शैक्षिक समुदाय को लगातार प्रभावित करती रही। विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के सच्चे समर्थक रहते हुए उन्होंने विभिन्न दीक्षान्त भाषणों में इन संस्थाओं को बार-बार प्रोत्साहित किया कि वे सामाजिक रूपान्तरण की लक्ष्य-प्राप्ति के लिए भारत के समृद्ध सांस्कृतिक अतीत का एक साधन की तरह उपयोग करें।

डॉ. राधाकृष्णन ने प्रख्यात साहित्यिक संस्थाओं जैसे पैन ऑल इंडिया सेंटर तथा साहित्य अकादेमी, जिसके कि 1964 में वे अध्यक्ष चुने गये, का बौद्धिक नेतृत्व भी स्वीकार किया। 1931 में उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि से विभूषित एवं 1953 में उन्हें लन्दन की रॉयल सोसायटी ऑफ लिटरेचर की तथा 1968 में साहित्य अकादेमी की फ़ेलोशिप प्रदान की गयी। एक राजनेता के रूप में उन्होंने सोवियत संघ में भारत के राजदूत, उपराष्ट्रपति तथा बाद में भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति का पद-भार ग्रहण किया।

इस विनिबन्ध (मोनोग्राफ़) की लेखिका **प्रेमा नन्दकुमार** (जन्म 1939) तमिल और अंग्रेज़ी में लेखन-आलोचना का कार्य करती हैं। इनकी कई पुस्तकें तथा बहुत-से लेख प्रकाशित हैं।

इस विनिबन्ध के अनुवादक **श्री जव** (दिल्ली विश्व.) से सम्बद्ध हैं। अध्याप कई संस्थाओं के लिए अनुवाद कार्य

Library IIAS, Shimla
H 922.94 R 118 N
00094249

ISBN 81-260-0435-5

मूल्य : पच्चीस रुपये